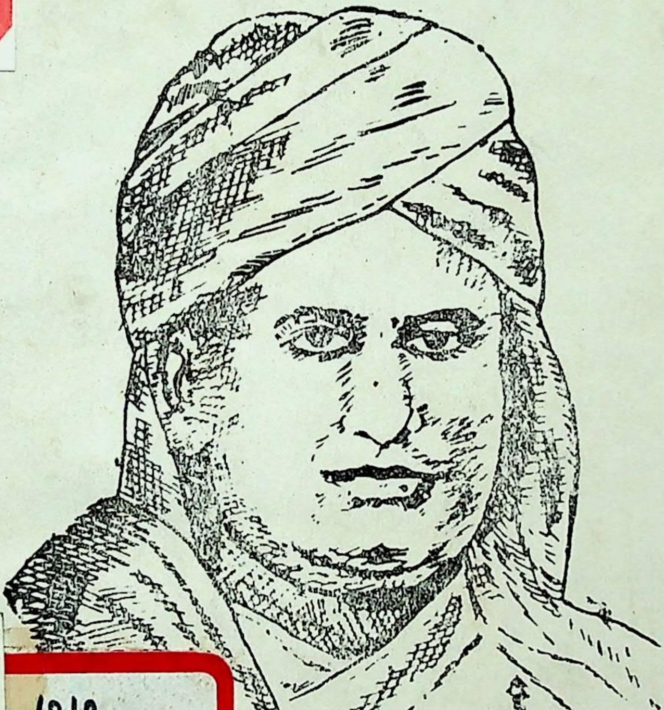
श्री प्रकाश



महर्षि दयानन्द का शिक्षा दर्शन

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

विषय संख्या 66/300 आगत नं० 8-605

लेखक श्री प्रकाश

शीर्षक महर्षि दयानन्द का शिक्षा दर्शन

दिनांक	सदस्य संख्या	दिनांक	सदस्य संख्या

दिनांक	संख्या	दिनांक	संख्या

महर्षि दयानन्द का शिक्षा दर्शन

प्रो० श्री प्रकाश
डी० ए - वी० कालेज, कानपुर.

पं० गंगा प्रसाद उपाध्याय वैदिक साहित्य प्रकाशन समिति
डी० ए - वी० कालेज, कानपुर.

पुस्तक—महर्षि दवानन्द का शिक्षा दर्शन

लेखक — प्रो० श्री प्रकाश

प्रकाशक — पं० गंगा प्रसाद उपाध्याय वैदिक साहित्य प्रकाशन समिति,
डी० ए० वी० कालेज-कानपुर

मुद्रक—अनन्ता प्रेस, कानपुर

मुख्य वितरक— १. साहित्य निकेतन, श्रद्धानन्द पार्क, कानपुर–१
२. सहचारी प्रकाशन १०७/६६ जवाहर नगर, कानपुर
३. आर्य्य समाज, चौक, इलाहाबाद

मूल्य—एक रुपया पचास पैसे

प्रथम संस्करण—सितम्बर १९७१

आभार प्रदर्शन

यह समिति द्वारा प्रकाशित प्रथम पुस्तक है । यह प्रस्ताव है कि समय समय पर महर्षि दयानन्द, आर्य्य समाज और वैदिक संस्कृति पर उपयोगी पुस्तकें प्रकाशित की जाँय और उन्हें सस्ते दाम में पाठकों के लिए उपलब्ध कराई जावें ।

समिति श्री कृष्ण कपूर और श्री प्रेम कुमार कोहली के प्रति आभार प्रदर्शित करती है जिन्होंने कि इस पुस्तक माला की प्रथम पुस्तक के मुद्रण में सहायता दी है ।

समिति परम आदरणीय स्वामी सत्य प्रकाश जी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करती है जिन्होंने कि इस पुस्तक की भूमिका लिखी है । वे स्वयं लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान हैं और वैदिक वाङ्मय के प्रख्यात ज्ञाता हैं । उनका आशीर्वाद हमारे इस सत्प्रयास को प्रेरित करेगा ।

—पं० गंगा प्रसाद उपाध्याय

वैदिक साहित्य प्रकाशन समिति

आशीर्वाद

उन्नीसवीं शती का संसार के इतिहास में विशिष्ट महत्व है और इस शती के मूर्धन्य उन्नायकों में महर्षि दयानन्द का विशेष स्थान है। विज्ञान और शिल्प के आविर्भाव के साथ जीवन के प्रत्येक अंगोपांग में परिवर्तन और समाज को नये ढंग पर संगठित करने के प्रयास पूर्वी और पश्चिमी दोनों जगतों में हुए। इस दिशा में जो क्रान्ति भारत में हुई उसके प्रवर्त्तन का श्रेय महर्षि दयानन्द को विशेष रूप से है। अन्य भी आचार्य थे जिन्होंने देश को पुरानी रूढ़ियों से बाहर निकाल कर नये मार्ग पर लाने का प्रयास किया। महर्षि दयानन्द उन आधुनिक प्रवर्त्तकों में से थे, जिनकी शिक्षा-दीक्षा पर योरोपीय पद्धति का कोई प्रभाव न था। गुजराती उनकी मातृभाषा थी, संस्कृत उनकी दीक्षा और संस्कृति की भाषा और उन्होंने आर्यभाषा (हिन्दी) और देवनगरी लिपि के माध्यम से भारत की राष्ट्रीय प्रवृत्तियों को जाग्रत करने का सफल प्रयोग किया। उन्नीसवीं शती के इस महापुरुष ने रूढ़िग्रस्त परम्पराओं को शाश्वत मान्यताओं द्वारा प्रतिस्थापित करने का प्रयत्न किया। उन्होने उस आर्य संस्कृति की खोज की जो यूरोप और एशिया की मूल स्रोत थी और मनीषी सत्यान्वेषी ऋषियों की देन थी। लगभग पिछले दो सहस्र वर्षों का इतिहास अन्ध परम्पराओं और विद्वेष मूलक स्वार्थों का इतिहास बन गया था। इसलिए ऐसे आचार्य की आवश्यकता थी जो नयी ज्योति प्रदान करे और आस्तिक मानव धर्म और आदर्श मानव समाज के निर्माण का स्वप्न देखे। महर्षि दयानन्द इसी प्रकार की एक ज्योति थे।

महर्षि दयानन्द युगपुरुष थे, समस्त मानव के न कि किसी देश विशेष के और उनकी एक ही कामना थी कि मनुष्यमात्र का कल्याण हो। यह कल्याण रूढ़ियों, अन्धपरम्पराओं, मिथ्या विश्वासों और अनैतिक आचरणों के द्वारा होना असम्भव था। जन कल्याण की संभावना तभी है जब शिक्षा की उचित व्यवस्था की जाय जिससे व्यक्ति सत्यासत्य के निर्णय में स्वयं सफल हो सके एवं सदा सद्विवेकवती बुद्धि से उसे मार्गप्रदर्शन प्राप्त हो सके।

महर्षि दयानन्द जानते थे कि यदि मानव का उत्थान और सद् समाज का निर्माण होना है, तो उस व्यक्ति को जीवन के आरम्भ से ही

सचेत रखना है। नवशिशु की प्रथम शिक्षिका उसकी माता है। नवशिशु अपने साथ पूर्वजन्म के संस्कार लाता है और ये संस्कार उचित वातावरण पाकर परिष्कृत होते हैं और अनुचित वातावरण में रक्खे जाने पर अच्छे से अच्छे संस्कार भी कलुषित हो जाते हैं। अतः यह आवश्यक है कि शिशु अवस्था से लेकर तरुणावस्था तक बालक की शिक्षा-दीक्षा का उत्तम प्रवन्ध हो।

शिक्षा का उत्तरदायित्व परिवार का भी है और समाज का भी। बच्चा राष्ट्र की सम्पत्ति है। राष्ट्र का भविष्य बच्चे पर निर्भर है। बच्चा ही आगे चलकर राष्ट्र का निर्माता बनता है। अतः बच्चों की शिक्षा की अवहेलना करना समाज और राष्ट्र के भविष्य की अवहेलना करना है। उपवन का माली इस बात से परिचित है कि वीजारोपण के समय से ही प्रत्येक स्थिति में अंकुर और पादप के प्रति सावधानी रखनी है। महर्षि दयानन्द ने अपने साहित्य और उपदेशों में इसी बात का आग्रह किया है। यदि देश की नैतिकता को सम्पुष्ट करना है, तो शिक्षा के प्रति सावधानी रखनी होगी। महर्षि दयानन्द का अपना एक स्वप्न था। वह अध्यात्म के आचार्य थे पर उनका अध्यात्म जीवन की वास्तविकता पर आश्रित था। व्यक्ति राष्ट्र का अंग है। राष्ट्र की समृद्धि में ही व्यक्ति की समृद्धि है। योग और प्रेम राष्ट्र की सम्पत्ति हैं। राष्ट्र को धन धान और समस्त प्रकार की सम्पदाओं से सम्पन्न होना है। विज्ञान और शिल्प के आधार पर देश की सम्पत्ति बढ़ानी है।

और तरुणों को इस दिशा में प्रोत्साहित होना है। सम्पन्न राष्ट्र की सम्पत्ति का वितरण सर्वजनहिताय सर्वलोकहिताय हो, इसके लिए स्वार्थ–परित्याग, जनसेवा और अपरिग्रह एवं अन्य नैतिक गुणों की आवश्यकता है। यही आस्था स्वामी दयानन्द की थी। वे ऐसे महान दार्शनिक विचारक थे जिन्होंने लोक–संग्रह और परलोक संग्रह में समन्वय किया, जिन्होंने अध्यात्मिक जीवन का लौकिक जीवन से समन्वय किया

और जिन्होंने महर्षि कणाद के वचन के आधार पर अभ्युदय और नि:श्रेयस दोनों के एकीकरण में धर्म की सफलता स्वीकार की।

बड़ी प्रसन्नता की बात है कि मेरे अनुज प्रो० श्री प्रकाश का ध्यान महर्षि दयानन्द की बहुमुखी सेवाओं के एक विशेष अंग की ओर गया—'महर्षि दयानन्द का शिक्षा संबंधी योगदान'। महर्षि के पवित्र वचनों और उपदेशों के आधार पर उन्होंने यह छोटी सी पुस्तक तैयार की है। इस पुस्तक में दिए गए विचारों को पढ़कर हमारे पाठक इस बात से परिचित हो जायेंगे कि महर्षि शिक्षा का उद्देश्य क्या समझते थे और शिक्षा पद्धति में किस नैतिकता और किन आदर्शों को प्रश्रय देना चाहते थे। इस छोटी पुस्तक में आप महर्षि के अपने उन वचनों को पावेंगे जो महर्षि की दूरदर्शी एवं कल्याणतम भावनाओं के परिचायक हैं। जो शब्द महर्षि ने लगभग एक शती पूर्व लिखे या कहे वे आज भी देश और संसार की वर्तमान परिस्थिति में आंके जा सकते हैं और जो आज भी अनिश्चयात्मक भविष्य की तमिस्रा में आलोक का कार्य कर सकते हैं। अपने अनुज को सस्नेह बधाई।

१९-२-७१ सत्य प्रकाश

महर्षि दयानन्द का शिक्षा दर्शन

विषय सूची

क्रम सं०	विषय		पृष्ठ संख्या

[१]

एक महान शिक्षाविद्

आर्य समाज का छठा नियम है:—

"संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।"

महर्षि दयानन्द ने व्यक्ति की शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति पर बल दिया है। व्यक्ति का शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक विकास ही शिक्षा का लक्ष्य है। इस नियम को स्थापित करके महर्षि ने शिक्षा के प्रसार को महत्व दिया है और स्व-स्थापित आर्य समाज को बाध्य किया है कि वह शिक्षा के क्षेत्र में उतरे। महर्षि इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हुए। सत्यार्थ प्रकाश के द्वितीय और तृतीय समुल्लास में उन्होंने शिक्षा के मूल-भूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी किया है और एक नया मार्ग-दर्शन देने की चेष्टा की है। "व्यवहार भानु" लिखकर उन्होंने इस पुस्तक के द्वारा शिक्षा विषयक अपने विचार भी प्रस्तुत किये हैं। "व्यवहार-भानु" की भूमिका में ही उन्होंने लिखा है—

"मैं मनुष्यों को उत्तम शिक्षा के अर्थ सब वेदादि शास्त्र और सत्याचारी विद्वानों की रीति युक्त इस व्यवहार–भानु ग्रन्थ को बनाकर प्रकट करता (हूँ) कि जिसको देख-दिखा पढ़–पढ़ाकर मनुष्य अपने और अपने मित्र तथा विद्यार्थियों का आचार अत्युत्तम करें कि जिससे आप और वे सब दिन सुखी रहें।"

महर्षि ने सत्यार्थ प्रकाश के द्वितीय समुल्लास के प्रारम्भ में ही लिखा है—

"अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामः"

और इस समुल्लास का अन्त हुआ है निम्न शब्दों से

"इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वती स्वामिकृते सत्यार्थ प्रकाशे सुभाषाविभूषिते बाल शिक्षाविषये द्वितीय समुल्लास: सम्पूर्ण: ।

इसी ग्रन्थ के तृतीय समुल्लास का आरम्भ किया है महर्षि ने यह लिखकर—

अथाऽध्ययनाऽध्या विधि व्याख्यास्याम:

और इस समुल्लास को उन्होंने समाप्त किया है

शिक्षाविषये तृतीय: समुल्लास: सम्पूर्ण:

लिखकर।

महर्षि को युग-प्रव कहा गया है। महर्षि को इस युग के महान् क्रान्तिकारी के रूप में खा गया है। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य-काल में जब अपना देश अधोगति को प्राप्त क चुका था, अध:पतन निम्न सीमा तक पहुँच गया था, हम अपने को पूर्णत भुला चुके थे, अपने आर्ष ग्रन्थों में हमारी श्रद्धा समाप्त हो चुकी थी, अप. संस्कृति और अपनी सभ्यता में हमारी आस्था मिट चुकी थी, पाखण्ड और अधर्म का एक ओर बोलबाला था तो दूसरी ओर नैतिकता मूल्यों को गिरा चुकी थी-मनुष्य मनुष्य न रह गया था, ऋषि दयानन्द का प्रादुर्भाव हुआ और उनके विचारों ने क्रान्ति कर दी, उथल पुथल मचा दी। देश ने करवट ली और मानवता जगी। मनुष्य ने अपने दर्शन किए, अपने में आत्म-विश्वास प्रतिष्ठित पाया। आर्ष ने अपने पुराने वैभवों को विमोचित कर जब हमारे सम्मुख रक्खा, हम चकित रह गये, स्तब्ध हो उठे।

ऋषि को हमने आर्य समाज के संस्थापक के रूप में देखा, वेदादि आर्ष ग्रन्थों के पुनरुद्धारक के रूप में पाया, सामाजिक क्षेत्र में उनके नेतृत्व के हमने दर्शन किए और शिक्षा के विचारक के रूप में वे हमारे सम्मुख आये। जीवन का कोई भी क्षेत्र क्यों न हो, ऋषि दयानन्द की छाप उस पर हैं-एक अमिट छाप-हम उनसे उऋण नहीं हो सकते।

इन पृष्ठों में उन्हें एक महान् शिक्षाविद् के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है। शिक्षा पर उनके मौलिक विचार थे। शिक्षा के क्षेत्र में उनकी अनुपम देन थी। उन्नीसवीं शताब्दी में जब अव्यवस्था का साम्राज्य था और शिक्षा की ओर किसी का ध्यान न था—शिक्षा अव्यवस्थित थी, पठन-पाठन का उचित प्रबन्ध न था। देश में निरक्षरता फैली हुई थी। कुछ संस्कृत पाठशालायें मन्दिरों के प्रांगण में लगती थीं और कुछ मकतब मस्जिदों में खुले हुए थे। कहीं कहीं विद्वान् बच्चों कों जोड़कर पाठशाला का रूप देने की चेष्टा करते रहते थे। शिक्षा का कोई विशेष मूल्य न था, महत्व न था। सम्पन्न परिवार भी अपने बच्चों को शिक्षित करने की ओर ध्यान न देता था। उस समय महर्षि ने शिक्षा-विषयक जो विचार दिये थे, उनका महत्व आज के परमाणविक युग में भी हैं।

आपको निमन्त्रण है। आइये और ऋषि के विचारों का मन्थन कीजिये। जो नवनीत निकलेगा उसमें आज भी ताजगी मिलेगी। एक ओर ऋषि ने हमारे पुरातन की ओर हमारा ध्यान अवश्य आकर्षित किया; वैदिक संस्कृति और वेदों की ओर वापिस जाने का आदेश दिया, दूसरी ओर जो शिक्षा विषयक विचार प्रस्तुत किये, उनको देखकर कौन कह सकता है कि वे आधुनिक विचारक नहीं है ? उन बातों को छोड़कर जिन्हें कि उस शताब्दी की परिस्थतियों ने लपेट रक्खा था, अन्य क्षेत्र में उनके विचार आधुनिक ही हैं और ठोस हैं।

व्यक्ति समाज की इकाई है। व्यक्ति का यदि शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक विकास हो जाय तो समाज का शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक विकास स्वतः हो जायेगा। यह तभी सम्भव है जब कि व्यक्ति की उचित शिक्षा हो। महर्षि सत्यार्थ प्रकाश के तृतीय समुल्लास में लिखते हैं:—

"सन्तानों को उत्तम विद्या, शिक्षा, गुण, कर्म और स्वभावरूप आभूषणों का धारण कराना माता, पिता आचार्य और सम्बन्धियों का मुख्य कर्म है।"

महर्षि ने द्वितीय समुल्लास के अन्त में निर्देश भी किया हैं।

"माता पिता का कर्तव्य कर्म, परम धर्म और कीर्ति का काम है जो अपनी सन्तानों को तन, मन, धन से विद्या, धर्म, सभ्यता और उत्तम शिक्षा युक्त करना।"

और महर्षि ने तो यहाँ तक लिख दिया है कि

"वे माता और पिता अपने सन्तान के पूर्ण वैरी हैं जिन्होंने उनको विद्या की प्राप्ति न कराई।

महर्षि ने तो यह राज्य का धर्म वताया है कि वह देखे कि राज्य में कोई भी बालक ऐसा न हो जो कि शिक्षा प्राप्त न कर रहा हों। उन्होंने आदेश दिया है कि

"इसमें राज नियम और जातिनियम होंना चाहिए कि पाँचवें तथा आठवें वर्ष से आगे अपने लड़कों और लड़कियों को घर में न रख सकें। पाठशाला में अवश्य भेज देवें, जो न भेजें वह दण्डनीय हों।"

अपने देश के नगरों के लिए जब अनिवार्य शिक्षा योजना बनाई गई तो विधान द्वारा दण्ड की व्यवस्था की गई उन अभिभावकों के लिए जो छः वर्ष से अधिक आयु के अपने बच्चों को पाठशाला में पढ़ने नहीं भेजते थे। आज के शिक्षाविदों ने तो वह न्यूनतम आयु छः वर्ष रक्खी जबकि बालक को शिक्षा प्रारम्भ कर देनी चाहिए। पर महर्षि ने इसे पांच वर्ष ही बताया, यह तथ्य उनकी शिक्षा के मूलभूत सिद्धान्तों के पूर्णतः ज्ञाता होने का परिचायक है। न्यूनतम आयु आज भी विवादास्पद हैं। विद्वानों का एक वर्ग तो दो वर्ष की आयु ही शिक्षा प्रारम्भ के लिये उपयुक्त बताता है। कुछ लोग चार वर्ष की आयु को ही उचित बताते हैं। महर्षि द्वारा निर्धारित पांच वर्ष की आयु मान्य है।

दण्ड की बात कहकर महर्षि के हृदय में शिक्षा के लिए कितना अनुराग हैं, यह प्रदर्शन उन्होंने कर दिया। दण्ड की बात एक ही समुल्लास

में उन्होंने बार बार की है । उन्हें विश्वास था कि अशिक्षित देश का कल्याण नहीं हो सकता । उन्होंने नब्ज पकड़ ली थी कि देश को जो सबसे बड़ा रोग लग गया है वह अशिक्षा हैं और यदि इस रोग को मिटाना है और देश को उन्नति के मार्ग पर ले जाना है तो प्रत्येक बालक और बालिका को शिक्षित करना ही होगा । अभिभावक स्वेच्छा से अपने बच्चों को शिक्षित करायें, अच्छा ही है । पर यदि अपने आप से उनमें अकल नहीं आती तो राज्य उन्हें दण्ड का भय दिखाकर बाध्य करे कि वे अपने बच्चों को पाठ-शाला में अवश्य भेजें ।

महर्षि के दिल में आग लगी थी कि शिक्षा को उचित महत्व दिया जाय । इसीलिए सत्यार्थ प्रकाश के प्रथम समुल्लास में ईश्वर के नाम की स्तुति करने के पश्चात् ही उन्होंने शिक्षा पर दो समुल्लास लिखे । इन दोनों समुल्लासों में उन्होंने वेदादि प्रामाणिक ग्रन्थों से मंत्रों को उद्धृत कर अपने विचारों की पुष्टि की है ।

महर्षि का विश्वास था कि:—

"जो थोड़ी विद्या वाला भी मनुष्य श्रेष्ठ शिक्षा पाकर सुशील होता उसका कोई भी कार्य नहीं बिगड़ता ।"

उनका विश्वास था कि

"जिस देश में यथायोग्य ब्रह्मचर्य विद्या और वेदोक्त धर्म का प्रचार होता है, वही देश सौभाग्यवान होता है ।"

उनका विश्वास था कि:—

"जिन पुरुषों का मन विद्या के विलास में तत्पर रहता, सुन्दर शील स्वभावयुक्त, सत्य भाषणादि नियम पालनयुक्त, और जो अभिमान अपवित्रता से रहित, अन्य की मलीनता के नाशक, सत्योपदेश, विद्यादान से संसारी जनों के दु:खों के दूर करने से सुभूषित वेदविहित कर्मों से पराये उपकार करने में रहते हैं वे नर और नारी धन्य हैं ।"

शिक्षा के तत्व

महर्षि दयानन्द ने शिक्षा की परिभाषा इस प्रकार दी है:—

जिससे मनुष्य विद्या आदि शुभ गुणों की प्राप्ति और अविद्यादि दोषों को छोड़ के सदा आनन्दित हो सकें वह 'शिक्षा' कहाती है।

महर्षि ने शिक्षा को विद्या का केवल पर्याय नहीं समझा, विद्या उपार्जन को शिक्षा का एक अंग माना है। विद्योपार्जन से कहीं अधिक विस्तृत है शिक्षा का क्षेत्र। महर्षि की दृष्टि में 'विद्या' एक शुभ गुण है जिसकी प्राप्ति की जाय, पर इसकी भांति अन्य गुण भी हैं जिनका प्राप्त किया जाना आवश्यक है। यदि उपर्युक्त परिभाषा का विश्लेषण किया जाय तो निम्न बातें सम्मुख आती हैं: --

(१) शिक्षा प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि शुभ गुणों को प्राप्त किया जाय।

(२) शिक्षित कहलाने के लिए यह भी आवश्यक है कि दोषों को छोड़ने की क्षमता आ जाय।

(३) शिक्षा की पूर्णता का परिचायक आनन्द की प्राप्ति है।

इस परिभाषा में उन्होंने एक शुभ गुण 'विद्या' की तो चर्चा की है, पर अन्य शुभ गुणों की ओर केवल संकेत ही किया है। महर्षि ने अपनी पुस्तकों में जहाँ जहाँ शिक्षा का प्रसंग उठाया है, वहाँ विद्या के अतिरिक्त अन्य शुभ गुणों की भी चर्चा की है।

व्यवहार भानु में महर्षि ने स्पष्ट लिखा है कि **"अच्छी भाषा बोलने, खाने, पीने, बैठने, उठने, वस्त्र धारण करने, माता पिता आदि के मान्य करने, उनके सामने यथेष्टाचारी न होने"** के ज्ञान का समावेश शुभ गुणों में किया जा सकता है और इनके अभाव में शिक्षा अधूरी ही रहेगी।

एक अन्य स्थान में महर्षि ने विद्यार्थी के लिये आवश्यक माना है कि उसे **"ईश्वर की उपासना, धर्म, अधर्म, प्रमाण, प्रमेय, सत्य, मिथ्या, पाखण्ड वेद शास्त्र आदि के लक्षण और उनके स्वरूप का यथावत् बोध और आचार्य के अनुकूल रहने की रीति की जानकारी"** भी हो।

एक अन्य स्थान पर महर्षि ने शिक्षा का उद्देश्य **"शरीर और आत्मा के पूर्ण बल की वृद्धि"** ही माना है।

महर्षि ने विद्यार्थी के लिये उपदेश दिया है कि वह

(१) मिथ्या को छोड़कर सत्य बोलें।
(२) सरल रहें।
(३) निन्दा न करें।
(४) नीचे आसन पर बैठें।
(५) शान्त रहें।
(६) चपलता न करें।
(७) आचार्य की ताड़ना पर प्रसन्न रहें।
(८) क्रोध कभी न करें।
(९) जब कुछ आचार्य पूछें तो हाथ जोड़ कर नम्र होकर उत्तर देवें।
(१०) घमण्ड से न बोलें।
(११) जब आचार्य शिक्षा करें, चित्त देकर सुनें, ठठ्ठे में न उड़ावें।
(१२) शरीर और वस्त्र शुद्ध रक्खें, मैले कभी न रक्खें।
(१३) जो कुछ प्रतिज्ञा करें, उसको पूरा करें।
(१४) जितेन्द्रिय होवें, लम्पटपन व्यभिचार कभी न करें।
(१५) उत्तमों का सदा मान करें, अपमान कभी न करें।
(१६) उपकार मानके कृतज्ञ होवें, किसी के अनुपकारी होकर कृतघ्न न होवें।
(१७) पुरुषार्थी रहें, आलसी कभी न रहें।

(१८) **जिस जिस कर्म से विद्या प्राप्त हो उस उसको करते जांय, जो जो बुरे काम क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोक आदि विद्याविरोधी हों उनको छोड़कर सदा उत्तम गुणों की कामना करें।**

(१९) **बुरे कामों पर क्रोध, विद्या ग्रहण में लोभ, सज्जनों से मोह, बुरे कामों से भय, अच्छे काम न होने में शोक करके विद्यादि शुभ गुणों से आत्मा का बल सदा बढ़ाते जायें।**

(२०) **वीर्य आदि धातुओं की रक्षा से जितेन्द्रिय हो शरीर का बल सदा बढ़ाते जायें।**

महर्षि ने शुभ गुणों की इतनी बड़ी सूची स्वयं ही दे दी है। इन गुणों को विद्यार्थी के अन्दर उत्पन्न करना शिक्षा का ही कार्य है। जो शिक्षा की परिपाटी इन गुणों की अवहेलना करती है और स्वयं को केवल विद्या-दान में ही सीमित रखती है उसे अधूरी ही कहा जायेगा।

महर्षि का विश्वास था कि **"शिक्षा से मनुष्य उत्तम होता है।"** उत्तम मनुष्य के लिये यही आवश्यक नहीं कि उसे विभिन्न विषयों का ज्ञान हो जाय या विभिन्न पुस्तकों का वह पठन कर ले—इस प्रकार करके वह विभिन्न विद्याओं से तो परिचित हो सकता है, पर वह शिक्षित तभी कहलायेगा जब कि उसमें इन परमावश्यक गुणों का प्रादुर्भाव हो जाएगा।

महर्षि स्वयं ही इस निश्चय पर आये थे कि **"जो धर्मयुक्त व्यवहार में ठीक ठीक वर्त्तता है, उसको सर्वत्र सुख, लाभ और जो विपरीत वर्त्तता है वह सदा दुःखी होकर अपनी हानि कर लेता है।"**

महर्षि ने "व्यवहार भानु" की भूमिका में ही लिखा है एक प्रिय सत्य—

"जब कोई सभ्य मनुष्य विद्वानों की सभा में या किसी के पास जाकर अपनी योग्यता के अनुसार नम्रतापूर्वक नमस्ते आदि करके बैठ के दूसरे की बात ध्यान से सुन, उसका सिद्धान्त जान, निरभिमानी होकर उत्तर प्रत्युत्तर करता है, तब सज्जन लोग प्रसन्न होकर उसका सत्कार और जो अण्ड-बण्ड बकता है, उसका तिरस्कार करते हैं"

महर्षि ने विद्या के अतिरिक्त इन अन्य शुभ गुणों को जीवन के लिए अत्यन्त ही महत्वपूर्ण बताया है। "व्यवहार भानु:" की भूमिका में वे यह भी लिखते हैं —

"जो थोड़ी विद्या वाला भी मनुष्य श्रेष्ठ शिक्षा पा कर सुशील होता, उसका कोई भी कार्य नहीं बिगड़ता।" अर्थात् वह जीवन में अवश्य ही सफल होता। अर्थात् जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक नहीं कि विद्या में ही उसकी पूर्णता हो, वह पटु हो। अल्प विद्या वाला व्यक्ति भी यदि उसमें अन्य गुण हैं तो **उत्तम मनुष्य** बन सकता है।

आधुनिक शिक्षा शास्त्र भी इन्हीं विचारों की पुष्टि करता है। कोई व्यक्ति साक्षर होने पर ही शिक्षित नहीं हो जाता। शिक्षित होने के लिए आवश्यक है कि विद्या के साथ साथ अन्य गुणों को भी ग्रहण किया जाय।

धर्म की स्थिति –

महर्षि दयानन्द ने धर्म की शिक्षा को विशेष महत्व दिया है। वे धर्म के पालन को जीवन के लिए अत्यन्त ही आवश्यक समझते थे। "व्यवहार भानु" में उन्होंने लिखा है –

"जो मनुष्य विद्या कम भी जानता हो, परन्तु दुष्ट व्यवहारों को छोड़ कर धार्मिक होके खाने पीने, बोलने, सुनने, बैठने, उठने, लेने-देने आदि व्यवहार सत्य से युक्त यथायोग्य करता है, वह कहीं कभी दुःख को प्राप्त नहीं होता और जो सम्पूर्ण विद्या पढ़के उत्तम व्यवहारों को छोड़ के दुष्ट कर्मों को करता है, वह कहीं कभी सुख को प्राप्त नहीं हो सकता।"

सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में भी महर्षि ने बल दिया है कि **"जो विद्या पढ़के धर्माचरण करता है वही सम्पूर्ण सुख को प्राप्त होता है।"**

तैत्तिरीयोपनिषद से उद्धरण दे करके महर्षि ने आचार्य को अपने छात्र को

यह उपदेश भी देने के लिए आदेश दिया है–"धर्माचार कर। प्रमाद से धर्म का त्याग मत कर। जो अनिन्दित धर्मयुक्त कर्म हैं उन सत्यभाषण आदि को किया कर, उनसे भिन्न मिथ्या भाषणादि कभी मत कर। जो हमारे सुचरित्र अर्थात धर्मयुक्त कर्म हों उनका ग्रहण कर और जो हमारे पापाचरण [हों] उनको कभी मत कर। जो कोई हमारे मध्य में उत्तम विद्वान धर्मात्मा ब्राह्मण हैं, उन्हीं के समीप बैठ और उन्हीं का विश्वास कर। जो समदर्शी पक्षपातरहित योग्य आर्द्रचित्त धर्म की कामना करने वाले धर्मात्मा जन हों जैसे वे धर्ममार्ग में वर्तें वैसे तू भी इसमें वर्त्ता कर।"

महर्षि दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में कई स्थानों पर धर्मात्मा विद्वान का उल्लेख किया है। उनकी यही इच्छा थी कि हम सब विद्वान तो हों, पर साथ साथ ही हम धर्मात्मा भी बनें।

आज के युग की सबसे बड़ी समस्या यही है कि हम धर्म को छोड़ते जा रहे हैं। अब तो शिक्षाविद् भी इसी राय के है कि शिक्षा में धार्मिक शिक्षा का अवश्य समावेश हो। आज जीवन में जो अनुशासनहीनता छा गई है, आज समाज में जो विघटन शुरू हो गया है, आज नैतिकता का जो अवमूल्यन हो गया है, उसका कारण यही है कि हमने अपने जीवन से धर्म को पृथक कर दिया है। आज के शिक्षाविदों की भी यही आवाज़ है कि धर्म को वापिस लाओ। विद्वान तो बनाओ, पर धार्मिक विद्वान बनाओ।

महर्षि ने धर्म की जो परिभाषा दी है, उससे शायद ही कोई मतावलम्बी असहमत होगा। महर्षि ने धर्म का विवेचन इस प्रकार किया है —

जो पक्षपात रहित न्याय, सत्य का ग्रहण, असत्य का सर्वथा परित्याग रूप आचार है, उसी का नाम धर्म और इससे विपरीत जो पक्षपात सहित अन्यायाचरण सत्य का त्याग और असत्य का ग्रहण रूप कर्म है उसी को अधर्म कहते हैं।

"व्यवहार भानु" में धर्म की परिभाषा करते समय महर्षि ने **"ईश्वराज्ञा पालन तथा परोपकार करना"** भी धर्म में शामिल कर लिया है। इससे भी मतभेद किसका होगा ?

एक अन्य स्थान पर यह पूछने पर कि धर्म किसको कहते हैं, महर्षि ने कहा था कि

जो न्यायाचरण, सबके हित का करना आदि कर्म हैं उनको धर्म और जो अन्यायाचरण सबके अहित के काम करने हैं, उनको अधर्म जानो।

महर्षि के कथनानुसार धर्मात्मा उसी व्यक्ति को कहेंगे

(i) जो अपने निर्णयों में पक्षपातरहित न्याय करता हो,

(ii) जो सत्य का ग्रहण करता हो और असत्य को छोड़ने के लिए जो सदा तत्पर हो,

(iii) जो ईश्वर की आज्ञा का पालन करता हो, अर्थात् ईश्वर द्वारा बनाए हुए नियमों के विपरीत जिसका आचरण न हो,

(Iv) जिसके कर्म परहितार्थ हों। जो 'स्व' से ऊपर उठ कर जन-हित के लिए कर्म करता हो।

आज तो समय की मांग भी है कि हम इन गुणों को अपनायें।

'व्यवहारभानु:' में महर्षि ने एक और पते की बात लिखी है।

"क्या जो कोई आत्मविरोध अर्थात् आत्मा में कुछ और वाणी में कुछ भिन्न और क्रिया में विलक्षणता करता है, वह अधर्मी, और जिसके जैसा आत्मा में वैसा वाणी और जैसा वाणी में वैसा ही क्रिया मे आचरण है, वह धर्मात्मा है ?"

धर्मात्मा व्यक्ति की 'करनी' और 'कथनी' में अन्तर नहीं होना चाहिए। हम जैसा विश्वास करें, वैसा ही कहें और जैसा कहें, वैसा ही करें—धर्मात्मा के यही लक्षण हैं।

महर्षि ने धर्म और विद्या में सम्बन्ध जोड़ते हुये यह भी लिखा है कि जो व्यक्ति धर्माचरण नहीं करता है उसे विद्या भी नहीं आ सकती। धर्माचरण की जो कल्पना महर्षि ने की थी, उस आधार पर तो यह कथन उपयुक्त प्रतीत होता है।

विद्या-अविद्या की परिभाषा देते हुये महर्षि लिखते हैं—

"जिससे पदार्थ यथावत जानकर न्याययुक्त कर्म किये जाँय वह विद्या, और जिससे किसी पदार्थ का यथावत् ज्ञान न होकर अन्याययुक्त कर्म किये जाँय, वह अविद्या कहाती है।"

पदार्थ की यथावत् जानकारी ही विद्या है। यह जानकारी तभी सम्भव है जबकि हम पक्षपातरहित दृष्टिकोण से पदार्थ को देखें और जैसा देखें वैसा ही मानें। विद्याध्ययन का यही धार्मिक तरीका है और महर्षि ने इसी ओर संकेत किया है।

जब हम यमुना के तट पर खड़े हो कर यमुना के जल को निहारते हैं तो हमारा मित्र कहता है कि यमुना का जल नीला है। उसके कथन की ओर दृष्टि डाले बिना ही हम जल को एक गिलास में लेते हैं और पाते हैं कि वह तो रंगहीन है, अन्य स्रोतों के जल के ही समान है, वह नदी में विभिन्न परिस्थितियों के कारण नीला दिखलाई अवश्य दे रहा था, पर है सामान्य जल ही, और अपनी इस जानकारी पर आस्था भी रखते हैं— मित्र की राय से प्रभावित नहीं होते— ज्ञान-उपार्जन की इस रीति को ही धार्मिक रीति माना गया है।

आज के शोधकार्य की पद्धति भी इसी पर आधारित है। मनुष्य जो इतना प्रगति कर गया है, नवीन से नवीन ज्ञान की जो उपलब्धि उसने की है, वह ऐसा न कर सका होता यदि उसने ज्ञानोपार्जन की धार्मिक रीति को न अपनाया होता। आज उसी ज्ञान को सत्य मानते हैं जिसे कसौटी पर कसा

जा सके और जिसे दोहराया जा सके । एक प्रयोग करके हम एक निश्चय पर आते हैं । यदि आप मेरे प्रयोग को स्वयं करके उसी निश्चय पर नहीं आ सकते तो वह विज्ञान नहीं है, वह मिथ्या है, उसका कोई मूल्य नहीं है ।

दोषों का त्याग

जैसा कि इस अध्याय के प्रारम्भ में ही लिखा जा चुका है कि महर्षि शिक्षा को तब तक अपूर्ण समझते थे जब तक कि व्यक्ति में दोषों के छोड़ने की क्षमता न आ जाय । जन्म लेते ही हम गुण और दोषों से घिरे रहते हैं । जो व्यक्ति गुणों को धारण करने की क्षमता पैदा कर लेता हैं और दोषों से दूर हटने की कोशिश करता है, वही शिक्षित कहलाता है ।

सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय समुल्लास में महर्षि ने इन दोषों की सूची दी है जो इस प्रकार है :—

(१) चोरी-जारी,
(२) आलस्य,
(३) प्रमाद,
(४) मादक द्रव्य-सेवन,
(५) मिथ्या भाषण,
(६) हिंसा,
(७) क्रूरता,
(८) ईर्ष्या,
(९) द्वेष,
(१०) मोह ।

इसी स्थान पर महर्षि ने स्पष्ट लिखा है कि

"जिस पुरुष ने जिसके सामने एक बार चोरी, जारी, मिथ्याभाषणादि कर्म किया उसकी प्रतिष्ठा उसके सामने मृत्यु पर्य्यन्त नहीं होती । जैसी हानि

प्रतिज्ञा मिथ्या करने वाले की होती है, वैसी अन्य किसी को नहीं। किसी को अभिमान करना योग्य नहीं। जो अभिमान अर्थात अहंकार है वह सब शोभा और लक्ष्मी का नाश कर देता है, इस वास्ते अभिमान करना न चाहिए। छल, कपट या कृतघ्नता से अपना ही हृदय दु:खित होता हैं तो दूसरे की क्या कथा कहनी चाहिए।"

"व्यवहारभानु:" में महर्षि ने आचार्य को आदेश दिया है कि

"जब कभी कोई बुरी चेष्टा, मलिनता, मैले वस्त्र धारण, बैठने, विपरीताचरण, निन्दा, ईर्ष्या, द्रोह, विवाद, लड़ाई, बखेड़ा, चुगली, किसी पर मिथ्या दोष लगाना, चोरी, जारी, अनभ्यास, आलस्य, अतिनिद्रा, अतिभोजन, अति–जागरण, व्यर्थ खेलना, इधर उधर अट्ट सट्ट मारना, विषय सेवन, बुरे व्यवहार की कथा करना व सुनना, दुष्टों के संग बैठना आदि दुष्ट व्यवहार करे तो उसको यथापराध कठिन दण्ड देवे।"

एक स्थान पर तो महर्षि ने यहाँ तक कहा है कि "जो बुरी चेष्टा देखकर लड़कों को न घुड़कते और न दण्ड देते हैं, वे क्योंकर माता, पिता और आचार्य हो सकते हैं?"

शिक्षा द्वारा शुभ गुणों के ग्रहण की बात तो सभी शिक्षाविदों ने की है। अपने आप में इन गुणों को उतार कर बालकों के सम्मुख उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करने की चर्चा तो सभी शिक्षा-विद करते हैं। पर महर्षि दयानन्द की यही विशेषता है कि उन्होंने शिक्षा के लिए आवश्यक बताया कि शिक्षा एक ओर तो बालक को उत्तम गुणों से भर दे, दूसरी ओर बालक को यह क्षमता दे कि वह बुराइयों से बचें। उन्होंने माता, पिता और आचार्य का यह परम कर्तव्य बताया है कि वे अपनी सन्तान का उचित मार्ग दर्शन करें, उन्हें गड्ढ़े में गिरने से बचायें। यह प्रतिदिन का अनुभव है कि बुराइयाँ हमें अधिक आकर्षित करती हैं, और हम उनकी ओर सहज ही झुक जाते हैं।

आज समाज का जो रूप बन गया है वह हमारे बच्चों में बचपन से ही बुराइयाँ भर देता है। आज समाज में असत्य और भ्रष्टाचार का वातावरण है और हमारे बच्चे इसी वातावरण में साँस लेते हैं, पलते हैं। बात बात पर हम झूठ बोल जाते हैं। छोटी छोटी बातों के लिए हम एक दूसरे को धोखा दे देते हैं। गलत कामों को करने में हम झिझकते नहीं। भ्रष्टाचार अपनी चरम सीमा पर है। ऐसे वातावरण में केवल भावात्मक दृष्टिकोण से कार्य नहीं चल सकता, हमें नकारात्मक दृष्टिकोण को भी अपनाना होगा। 'सदा सच बोलो' यह उपदेश ही काफी नहीं है, "कभी झूठ न बोलो' यह आदेश भी देना आवश्यक है। 'सच बोलो', इसके साथ पुरस्कार को सम्बद्ध करना आवश्यक नहीं—सच बोलना तो हमारा धर्म है। पर 'झूठ बोलोगे' तो दण्ड की व्यवस्था की जायेगी'। क्यों ? झूठ बोलना अनैतिक है, अस्वाभाविक है। 'सड़क पर ठीक ढंग से चल रहे हो' इसमें ध्यान देने की क्या बात है ? यदि गड्ढे में गिरोगे तो ध्यान देना ही होगा। गड्ढे में गिरने से तो तुमको रोकना ही होगा। यही धर्म है, यही कर्त्तव्य है। हम अपने इस कर्तव्य की अवहेलना कैसे कर सकते हैं ? महर्षि की यही विशेषता है कि उन्होंने कोलतार की पक्की सड़क ही नहीं देखी, उन्होंने उसमें खुदे गड्ढों को भी देखा। एक ओर जहाँ उन्होंने उस पक्की सड़क पर हमें चलना सिखाया, दूसरी ओर उन्होंने गड्ढों में गिरने से बचने की भी बात की।

सत्यार्थ प्रकाश के द्वितीय समुल्लास में महर्षि ने माता-पिता को आदेश दिया है कि वे :—

"मिथ्या बातों से बचने का उपदेश बाल्यावस्था ही में सन्तानों के हृदय में डाल दें जिससे स्वसन्तान किसी के भ्रमजाल में पड़ के दुःख न पावें।"

आनन्द की प्राप्ति

शिक्षा का लक्ष्य क्या है ? महर्षि कहते हैं आनन्द की प्राप्ति।

'व्यवहार भानु:' में महर्षि ने स्पष्ट लिखा है कि :–

"विद्या से यथार्थ ज्ञान होकर यथायोग्य व्यवहार करने कराने से आप और दूसरों को आनन्द युक्त करना विद्या का फल है।"

'स्वान्त: सुखाय' का प्रश्न नहीं–केवल अपने सुख की बात महर्षि नहीं करते– शिक्षा तो वही पूर्ण है जो अपने को सुखी रक्खे और दूसरों को सुखी रक्खे। वातावरण को आनन्द-युक्त करने की क्षमता शिक्षा में होनी चाहिए।

शिक्षा द्वारा आनन्द प्राप्ति की बात महर्षि ने एक शताब्दी पूर्व की थी। इसी आनन्द की चर्चा आधुनिक शिक्षाविद् भी करते हैं। बीसवी-शताब्दी में शिक्षा के दृष्टिकोण में जो मौलिक परिवर्तन आया, वह यही है कि "आनन्द मयी शिक्षा" (Happy Education) का ढिंढोरा जब आज के शिक्षाविदों ने पीटा तो हम उसकी ओर आकर्षित हो गये। वस्तुत: इसमें कोई नई बात नहीं। इसका उल्लेख तो महर्षि ने सौ वर्ष पूर्व ही कर दिया था।

एक स्थान पर महर्षि ने लिखा है कि **बिना विद्या के किसी मनुष्य को निश्चय सुख नहीं हो सकता।**

एक अन्य स्थल पर महर्षि ने उल्लेख किया है कि **"उत्तम विद्या शिक्षा, शील, स्वभाव, शरीर और आत्मा से बलयुक्त होके आनन्द को नित्य बढ़ा सके।"**

'व्यवहार भानु:' में महर्षि ने एक हुड़दंगा और एक सज्जन व्यक्ति का निम्न संवाद लिखा है। अत्यन्त ही रोचक है।

हुडदंगा—हम देखते हैं कि बहुत से मनुष्य विद्या पढ़े हुए दरिद्र और भीख माँगते तथा बिना पढ़े हुए राज्य धन का आनन्द भोगते हैं।

सज्जन–**सुनो प्रिय ! सुख-दुख का योग आत्मा में हुआ करता है। जहाँ विद्या सूर्य का अभाव और अविद्यान्धकार का भाव है, वहाँ दु:खों की तो**

भरमार, सुख की क्या कथा कहना है ? और जहाँ विद्यार्क प्रकाशित होकर अविद्यान्धकार को नष्ट कर देता है, उस आत्मा में सदा आनन्द का योग और दु:ख को ठिकाना भी नहीं मिलता है ।

हमारे प्राचीन ग्रन्थों ने सुख दुख का योग आत्मा से बताया है। सुख दो प्रकार के होते हैं–भौतिक और आत्मिक। सामान्य दृष्टि से हम विद्योपार्जन को आवश्यक समझते हैं अर्थोपार्जन के लिए और अर्थोपार्जन को आवश्यक माना गया है भौतिक सुख की उपलब्धि के लिए। सुन्दर भोजन, सुन्दर वस्त्र, सुन्दर मकान और सुखी जीवन के लिए कौन कामना नहीं करता ? किसे आराम नहीं चाहिए ? वैभव और सम्पन्नता का कौन इच्छुक नहीं ? पर क्या यह भौतिक सुख की उपलब्धि ही सुख की अन्तिम सीमा है ? क्या सभी सम्पन्न व्यक्ति सुखी हैं ? आज सम्पन्न व्यक्ति भी आनन्द की खोज में रहते हैं। वे भी मोक्ष की कामना करते हैं। इस मोक्ष की प्राप्ति का मार्ग भी विद्याध्ययन ही है।

महर्षि ने उपदेश दिया है—

"धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि के लिए विद्या का अभ्यास तन, मन, धन से किया और कराया कर।"

विद्या

महर्षि दयानन्द ने विद्या की परिभाषा निम्न प्रकार दी है :–
जिससे पदार्थ का स्वरूप यथावत् जानकर उससे उपकार ले के अपने और दूसरों के सब सुखों को सिद्ध कर सकें वह 'विद्या' जिससे पदार्थ के स्वरूप उल्टा जानकर अपना और पराया अनुपकार कर लेवें वह 'अविद्या, कहाती है।"

एक अन्य स्थान पर महर्षि ने विद्या अविद्या की चर्चा करते हुये लिखा है–
"जिससे पदार्थ यथावत् जानकर न्याययुक्त कर्म किये जावें वह 'विद्या', और जिससे किसी पदार्थ का यथावत् ज्ञान न होकर अन्यायरूप कर्म किये जाय, वह 'अविद्या' कहाती है।"

इन परिभाषाओं का विश्लेषण करने से विद्या के सम्बन्ध में निम्न बातें स्पष्ट हो जाती हैं :–

(१) पदार्थ के स्वरूप की यथावत् जानकारी,

(२) इस जानकारी का ऐसा उपयोग जो अपने लिये और पराये के लिये सुखदायक हो सके,

(३) ज्ञान प्राप्त करने के बाद कर्म न्याय–युक्त हों।

यह ही महर्षि की अपनी विशेषता है। आधुनिक प्रचलित परिभाषा के अनुसार महर्षि द्वारा दी गई परिभाषा का पहला भाग ही प्रशस्त है। पदार्थ के स्वरूप की जानकारी को ही आज हम ज्ञान मान लेते हैं। वह ज्ञान हमें न्यायपूर्ण कर्म करने को प्रेरित करता हैं या नहीं, अथवा वह ज्ञान हितकारी है या अहितकारी, इसकी चिन्ता हम नहीं करते पर महर्षि के अनुसार वह विद्या विद्या नहीं जो कि हमें न्यायपूर्ण कर्म करने को प्रोत्साहित नहीं करती और जो हितकारी सिद्ध न हुई हो।

उदाहरण के लिये हम भाषा को ले सकते हैं। भाषा की जानकारी ही विद्योपार्जन नहीं है भाषा का जब तक हम प्रयोग अपने सद्विचारों को व्यक्त करने में नहीं करते हैं तब तक वह विद्या नही कहलायेगी। यदि अर्जित भाषा का उपयोग अपशब्द बोलने, अश्लीलता प्रकट करने और पर-निन्दा करने में लगाते हैं (जो कार्य किसी के लिये हितकारी नहीं हैं), तो यह भाषा का ज्ञान 'विद्या' की संज्ञा नहीं प्राप्त करेगा।

हमने लोहे का अध्ययन किया। उसके वास्तविक रूप की जानकारी की। उसके गुणों को परखा। यह उपलब्ध ज्ञान अभी अधूरा है। इस लोहे के अध्ययन से प्राप्त ज्ञान का उपयोग यदि लोहे की बड़ी २ मशीनों के निर्माण में आता है तो यह ज्ञान हितकारी हो गया, सार्थक बन गया। इन मशीनों से उपयोगी वस्तुओं का उत्पादन होगा। पर यदि हमने तोपें, बन्दूकें, तलवारें, कटारें आदि विनाशकारी वस्तुओं के निर्माण में उस उपलब्ध ज्ञान का प्रयोग किया तो वह उपलब्ध ज्ञान विद्या का अंग नहीं होगा। वह केवल निष्प्राण ज्ञान ही रह जायेगा।

महर्षि ने ज्ञान और विद्या को पृथक समझा है, एक दूसरे कों पर्याप्त नहीं माना है। ज्ञान विद्या का एक अंग ही है। ज्ञान पूर्ण विद्या नहीं। ज्ञान जब लोकोपयोगी हो और जब पक्षपात रहित हो तभी वह विद्या के आसन पर आरूढ़ हो सकता है। अन्यथा उसकी गणना अविद्या में ही होगी।

विद्या प्राप्ति के उपाय

व्यवहार भानु: में महर्षि दयानन्द ने विद्या प्राप्ति के कई उपायों का उल्लेख किया है। विद्या निम्न प्रकार से आती है :-

(१) **आगम :-** **आगमकाल उसको कहते हैं कि जिससे मनुष्य पढ़ाने वाले से सावधान होकर ध्यान दे के विद्यादि पदार्थ ग्रहण कर सकें।**

(२) **स्वाध्याय:-स्वाध्याय काल उसको कहते हैं कि जो पठन समय में आचार्य के मुख से शब्द, अर्थ और सम्बन्धों की**

बातें प्रकाशित हों उनको एकांत में स्वस्थ चित्त होकर पूर्वापर विचार के ठीक ठीक हृदय में दृढ़कर सकें।

(३) प्रवचन :— प्रवचन उसको कहते हैं कि जिससे दूसरों को प्रीति से विद्याओं को पढ़ा सकना।

(४) व्यवहार :— व्यवहार काल उसको कहते हैं कि जब अपने आत्मा में सत्य विद्या होती है तब यह करना वह न करना, वही ठीक ठीक सिद्ध होके वैसा ही आचरण करना हो सके।

(५) श्रवण :— श्रवण उसको कहते हैं कि आत्मा मन के और मन श्रोत्र इन्द्रियों के साथ यथावत् युक्त करके अध्यापक के मुख से जो जो अर्थ और सम्बन्ध के प्रकाश करने हारे शब्द निकलें उनको श्रोत्र से मन और मन से आत्मा में एकत्र करते जाना।

(६) मनन :— मनन उसको कहते हैं कि जो जो शब्द, अर्थ और सम्बन्ध आत्मा में एकत्र हुये हैं उनका एकांत में स्वस्थचित्त होकर विचार करना कि कौन शब्द किस अर्थ के और कौन अर्थ किस शब्द के साथ सम्बन्ध अर्थात मेल रखता और इनके मेल में किस प्रयोजन की सिद्धि और उलटे होने में क्या क्या हानि होती हैं ?

(७) निदिध्यासन :— निदिध्यासन उसको कहते हैं कि जो जो अर्थ और सम्बन्ध सुने विचारे हैं वे ठीक ठीक हैं या नहीं इस बात की विशेष परीक्षा करके दृढ़ निश्चय करना।

(८) साक्षात्कार :— साक्षात्कार उसको कहते हैं कि जिन अर्थों के शब्द और सम्बन्ध सुने विचारों और निश्चय किये हैं

उनको यथावत् ज्ञान और क्रिया से प्रत्यक्ष करके व्यवहारों की सिद्धि से अपना और पराया उपकार करना।

सत्य–असत्य की परीक्षा

जो सत्य हैं, वही विद्या है। यह किस प्रकार से जाना जाय कि सत्य क्या है और असत्य क्या है ? व्यक्ति विशेष की इच्छा या व्यक्तिगत अनुभवों पर यह निर्भर नहीं। सत्य सदा सत्य रहेगा, सबके लिये सत्य रहेगा। महर्षि ने सलाह दी है कि परीक्षा कर निर्णय कर लो कि सत्य क्या है और मिथ्या क्या है। महर्षि ने पांच प्रकार की परीक्षाओं का वर्णन किया है :–

(१) ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव के अनुकूल

महर्षि कहते हैं कि जो ज्ञान ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव और वेदों से अनुकूल हो वह **सत्य** और उससे विरुद्ध असत्य हैं।

इसको महर्षि की भाषा में ही समझने का प्रयास कीजिए—

ईश्वरादि से परीक्षा करना उसे कहते हैं कि जो जो ईश्वर, के न्याय आदि गुण, पक्षपातरहित, सृष्टि बनाने का क्रम और सत्य, न्याय, दयालुता, परोपकार आदि स्वभाव और वेदोपदेश से सत्य और धर्म ठहरे, वही सत्य और धर्म और जो असत्य और अधर्म ठहरे, वही असत्य और अधर्म है। जैसे कोई कहे कि बिना कारण और कर्ता के कार्य होता है, सो सर्वदा मिथ्या जानना।

(२) सृष्टिक्रम के अनुकूल

जो जो सृष्टिक्रम अर्थात् सृष्टि के गुण कर्म और स्वभाव से विरुद्ध हो वह मिथ्या और जो अनुकूल हो वह सत्य कहलाता है।

जैसा कोई कहे कि बिना माँ बाप के लड़का पैदा हो गया है, या वह व्यक्ति कान से देखता है या आंख से सुनता है —ये सब कथन मिथ्या हैं क्योंकि वे सृष्टि के स्वभाव के अनुकूल नहीं हैं। सृष्टिक्रम तो है कि

(i) बालक माता–पिता के द्वारा ही उत्पन्न होता है
(ii) कान का कार्य सुनना है, और
(iii) आँख का कार्य देखना है।
ये सब सत्य हैं। इनके विपरीत सभी असत्य हैं।

(३) आप्तों के अनुकूल

जो धार्मिक, विद्वान, सत्यवादी, निष्कपटियों का संग उपदेश के अनुकूल है वह ग्राह्य और जो जो विरुद्ध वह अग्राह्य है

जो सत्यवादी, सत्यकारी, सत्यमानी पक्षपात रहित सबके हितैषी विद्वान सबके सुख के लिए प्रयत्न करें वे धार्मिक लोग **आप्त** कहलाते हैं। उनके उपदेश, आचार, ग्रन्थ और सिद्धान्त से जो युक्त हो, वह सत्य और जो विपरीत हो वह मिथ्या है।

अन्य प्रमाणों के अभाव में जिस बात को विद्वान वर्ग सत्य माने वे सत्य है जिसे असत्य मान ले वह मिथ्या है।

(४) आत्मा के अनुकूल

अपने आत्मा की पवित्रता विद्या के अनुकूल, अर्थात् जैसा अपने को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है वैसे ही सर्वत्र समझ लेना कि मैं भी किसी को दुःख वा सुख दूंगा तो वह भी अप्रसन्न और प्रसन्न होगा।

आत्मा से परीक्षा उसको कहते हैं कि जो–जो आत्मा अपने लिए चाहे सो–सो सबके लिए चाहना, और जो जो न चाहे, सो–सो किसी के लिए न चाहना जैसा आत्मा में, वैसा मन में, जैसा मन में वैसा क्रिया में होने की जानने की इच्छा शुद्धभाव और विद्या के नेत्र से देखकर सत्य और असत्य का निश्चय करना चाहिये।

(५) प्रमाणों द्वारा परीक्षा

प्रमाण आठ होते हैं :—
(i) प्रत्यक्ष, (ii) अनुमान, (iii) उपमान, (iv) शब्द, (v) ऐतिह्य, (vi) अर्थापत्ति, (vii) सम्भव और (viii) अभाव।

महर्षि कहते हैं कि **जो जो प्रमाणों से ठीक–ठीक ठहरे वह सत्य और जो जो विरुद्ध ठहरे वह मिथ्या समझना चाहिए।**

(i) **प्रत्यक्ष प्रमाण** :–जब ज्ञानेन्द्रियों द्वारा वस्तु को पहचाना जाता है तो यह प्रत्यक्ष प्रमाण है। आँखे जल को देख रही हैं, यह जल ही है, यह जल की उपस्थिति का प्रत्यक्ष प्रमाण है। त्वचा वायु का अनुभव कर रही है। त्वचा की अनुभूति ही वायु की उपस्थिति का प्रत्यक्ष प्रमाण है। नाक गुलाब की गन्ध को सूंघ रही है। गुलाब की गन्ध है, यह प्रत्यक्ष।

(ii) **अनुमान प्रमाण** :–जब एक वस्तु को देखकर दूसरे अदृष्ट वस्तु के ज्ञान की कल्पना की जाती है तो इसे अनुमान कहते हैं। पुत्र को देखकर पिता का अनुमान किया जा सकता है। धुँये को देखकर अग्नि का अनुमान लगाया जा सकता है।

यह अनुमान तीन प्रकार का हैं :—

(अ) **पूर्ववत्** :– **"जहाँ कारण को देख के कार्य का ज्ञान हो वह पूर्ववत्"** जैसे बादलों को देख के वर्षा का, विवाह को देख के सन्तानोत्पत्ति का, विद्यार्थियों को देखकर विद्या होने का निश्चय होना।

(ब) **शेषवत्** :-**जहाँ कार्य को देख के कारण का ज्ञान हो।** जैसे नदी के प्रवाह की बढ़ती देख के ऊपर हुई वर्षा का, पुत्र को देख के पिता का, सुख दु:ख को देख के पाप और पुण्य के आचरण का तथा सृष्टि को देख के अनादि कारण का तथा कर्त्ता ईश्वर का ज्ञान होता है।

(स) **सामान्यतोदृष्ट** :—**जो किसी कार्य का कारण न हो परन्तु किसी प्रकार का साधर्म्य एक दूसरे के साथ हो।** जैसे कोई भी बिना चले किसी दूसरे स्थान को नहीं जा सकता, वैसे ही दूसरों का भी स्थानान्तर में जाना बिना गमन के कभी नहीं हो सकता।

(iii) **उपमान** :–प्रत्यक्ष से साधर्म्य होने की स्थित में जिसको जाना जा सके। मैंने गाय देखी है। मैंने सुना है कि नील गाय साधारण गाय के सदृश होती है। जंगल में नील गाय हैं। जब जंगल में एक पशु को गाय जैसा

पाता हूं तो **उपमान** से समझ लेता हूं कि यह ही नील गाय है।

(iv) **शब्द प्रमाण** :–जो परम विद्वानों के उपदेश हों।

(v) **ऐतिह्य** :–किसी के जीवन चरित्र का नाम ऐतिह्य है।

(vi) **अर्थापत्ति** :–जैसे किसी ने किसी से कहा, "बादल के होने से वर्षा होती है।" इससे यह सिद्ध होता है कि "बिना बादल के वर्षा नहीं हो सकती।" इसी प्रकार इस कथन से कि "कारण के होने से कार्य उत्पन्न होता है", यह सिद्ध हो जाता है कि "बिना कारण कार्य कभी नहीं हो सकता।"

(vii) **सम्भव** :–जो बातें सृष्टिक्रम के अनुकूल हो वही सम्भव हैं। जो अनुकूल न हों, वे सम्भव नहीं हैं। जैसे, माता—पिता के बिना सन्तानोत्पत्ति सम्भव नहीं है। मनुष्य के सींग नहीं हो सकते। घोड़ा उड़ नहीं सकता। बैल दूध नहीं दे सकता।

(viii) **अभाव** :–जैसे किसी ने कहा "जल ले आओ।" उसने जल के अभाव को जानकर तर्क से जाना कि जहाँ जल है वहाँ से लाकर देना चाहिये, यह अभाव प्रमाण कहाता है।

विद्या का फल

पिछले अध्याय में लिखा जा चुका है कि विद्या का फल आनन्द की प्राप्ति है।

ऋषि ने इस तथ्य को निम्न मंत्र से दिग्दर्शित किया गया है—

न विद्यया बिना सौख्यं नराणां जायते ध्रुवम्।
अतो धर्म्मार्थमोक्षेभ्यो विद्याभ्यास समाचरेत्॥

जीवन का लक्ष्य ही सुखी होना है। हम इस लोक के सुख की बात ही नहीं करते, परलोक के सुख की भी कल्पना करते हैं। विद्या जीवन के इस लक्ष्य की प्राप्ति में साधन का कार्य करती है। जीवन का लक्ष्य ही वस्तुतः विद्या का उद्देश्य है।

महर्षि ने इसीलिए मनुस्मृति से उद्धृत करके यह पुष्टि की है कि विद्या दान सर्वोत्तम दान है। मनुस्मृति का वक्तव्य है—

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते।
वार्यन्नगो मरीवास स्तिवकांचन सर्पिषाम्।

संसार में जितने दान हैं अर्थात् जल, अन्न, गौ, पृथ्वी, वस्त्र, तिल, सुवर्ण और घृतादि इन सब दानों से वेद विद्या का दान अति श्रेष्ठ है। इसलिए जितना बन सके उतना तन, मन, धन से विद्या की वृद्धि में किया करें।

ऋषि ने सत्यार्थ प्रकाश के तृतीय समुल्लास में लिखा है कि—

" [विद्या का] कोष अक्षय है, इसको जितना व्यय करे, उतना ही बढ़ता जाय। अन्य सब कोष व्यय करने से घट जाते हैं और दायभागी भी निजभाग लेते हैं, और विद्याकोष का चोर या दायभागी कोई नहीं हो सकता।

वेद विद्या

महर्षि ने अपने ग्रन्थों में कई स्थानों पर वेदविद्या शब्द का प्रयोग किया है। इस शब्द का अर्थ क्या है ? वेद हमारे प्राचीन ग्रन्थ हैं। उनमें मुद्रित ज्ञान को वेद-विद्या की संज्ञा देना उचित ही है। वेद में जो विद्यायें निहित हैं, महर्षि ने उन्हें तो वेद-विद्या कह कर पुकारा ही है। पर अनेक स्थानों पर उन्होंने वेद विद्या का उपयोग श्रेष्ठ विद्या के अर्थ में भी किया। उस ज्ञान को जो अन्य श्रेष्ठ ग्रन्थों में भी उपलब्ध है, महर्षि वेद-विद्या के रूप में मानते थे

महर्षि ने तृतीय समुल्लास में एक अत्यन्त ही महत्व की बात लिखी है।

"प्रमाणित ग्रन्थों को इसलिए पढ़ना चाहिए कि वे बड़े विद्वान, सर्वशास्त्रवित् और धर्मात्मा थे।

अर्थात् ऐसे लेखक जो विद्वान, सर्वशास्त्रवित्, और धर्मात्मा हैं, उन्हें ऋषि माना जा सकता है और उनके ग्रन्थों को भी आर्य—ग्रन्थों में ही शुमार कर दिया जा सकता है।

मेरा तो अपना विश्वास है कि यदि आज महर्षि जीवित होते और यदि उन्हें किसी आधुनिक पुस्तकालय में ले जाया जाता तो वे अवश्य ही उन सभी ग्रन्थो को जो सत्य ही सत्य प्रकट करती है, पठन-योग्य ग्रन्थों की सूची में समावेश कर देते। महिष उन सब विद्याओं को जो सत्य पर आधारित है, जो लोक-कल्याणकारी हैं, उन्हें वेद-विद्या से सम्बोधन अवश्य करते।

महर्षि के ग्रन्थों के पढ़ने से यह स्पष्ट है कि महर्षि संकुचित विचारों के नहीं थे, उनका मस्तिष्क खुला था और उनका दृष्टिकोण विशाल था। उनकी वेदों में आस्था थी, वेदादि ग्रन्थों में निष्ठा थी, पर सत्य पर आधारित अन्य ग्रन्थों और अन्य विचारों का आदर उनके हृदय में अवश्य था, यह हम कह सकते हैं।

आर्य्य समाज के तीसरे नियम में महर्षि ने आदेश दिया है :—

वेद सत्य विद्याओं की पुस्तक है, वेद का पढ़ाना-पढ़ना और सुनना-सुनाना सब आर्य्यों का परम धर्म है।

मैं एक कदम आगे रखने की धृष्ठता करना चाहता हूं। अन्य पुस्तकें जो सत्य-विद्याओं की हैं [विद्याकी परिभाषा पीछे दी जा चुकी है। इसी परिभाषा पर आधारित पुस्तकें] उनका भी पढ़ना-पढ़ाना, सुनना और सुनाना सब आर्य्यों का परम धर्म है।

यही तो आधुनिक शिक्षाविद् का मत है। वह कब कहता है कि मिथ्या ग्रन्थों को पढ़ो। वह भी तो महर्षि की भांति प्रेरित करता कि "सत्य विद्या का ग्रहण करो और सत्य-ग्रन्थों का पाठ करो।"

—

शिशु शिक्षा

महर्षि शिशु शिक्षा को महत्व देते थे, इसलिए उन्होंने सत्यार्थ प्रकाश के द्वितीय समुल्लास में केवल इसी विषय की चर्चा की है। महर्षि के विचारों को हम संक्षेप में यहाँ रख रहे हैं।

गर्भाधान से

महर्षि का विचार था कि व्यक्ति की देखरेख गर्भाधान से ही होनी चाहिये। गर्भ-काल में ही व्यक्तियों के इस भौतिक शरीर का निर्माण होता है और जरा सी भी असावधानी से हानि पहुंच सकती है। "परस्पर-प्रसन्नता" का वातावरण हो, "किसी प्रकार का शोक न हो", महर्षि का यह उपदेश है।

आज के अनेक विचारक भी यही मानते हैं। वे गर्भ-काल को महत्व देते हैं।

माँ की गोद

महर्षि ने स्पष्ट लिखा है कि **"जितना माता से सन्तानों को उपदेश और उपकार पहुंचता है उतना किसी से नहीं। जैसे माता सन्तानों पर प्रेम, उनका हित करना चाहती है, उतना कोई नहीं करता, इसलिए .... धन्य वह माता है कि जो गर्भाधान से लेकर जब तक पूरी विद्या न हो तब तक सुशीलता का उपदेश करे।"**

महर्षि ने निर्धारित किया कि **"जन्म से पांचवे वर्ष तक बालकों को माता, ६ वर्ष से ८वें वर्ष तक पिता शिक्षा करें और ९वें वर्ष के आरम्भ में आचार्य्य कुल में भेज देवे।"**

बालक के प्रथम पांच वर्ष विकास के दृष्टिकोण से अत्यन्त ही महत्व के हैं इस काल में बालक का शारीरिक, मानसिक और सामाजिक विकास प्रारम्भ हो जाता है। नींव भरी जाती हैं। नींव की मजबूती पर ही भवन की

विशालता आधारित है, नींव की आकृति और आकार पर ही भवन की भव्यता आधारित है। नींव की अवहेलना कौन करना चाहेगा ? आज का शिक्षाविद् भी यह मानने लगा है कि इस काल में बालक को जो ममतामय परिवेश घर में मिल सकता है, बाहर नहीं, बालक का जो उचित विकास मां की संरक्षण में हो सकता है, अन्य किसी स्थान पर नहीं।

पाश्चात्य देशों में तो इस पर प्रयोग भी किये गये हैं। बालकों को जन्म के बाद अधिकाँश समय माता-पिता से अलग रक्खा गया। दोनों माता-पिता नौकरी करते थे, शाम को थके थकाये घर आते थे। घर में आने पर बच्चों की चीं चीं से उन्हें मुक्ति मिलें, इसलिए शिशु निवास (Creche) की स्थापना की गई। माता-पिता जब चाहते अपने बच्चों को इन शिशु निवास में छोड़ जाते। कभी-कभी तो नन्हाँ शिशु चौवीसों घण्टे माता-पिता से अलग रहता।

यह देखा गया है कि इस प्रकार के बच्चे--अन्य व्यक्तियों के संरक्षण में विकसित बच्चों के विकास को घुन लग जाता है। अनेक दुर्गुण प्रवेश कर जाते हैं। यह नहीं कि शिशु निवास की व्यवस्था में कोई खराबी हो। सुन्दर पालने, पुष्टिकारक भोजन, शिक्षणात्मक खेलों की व्यवस्था और प्रशिक्षित संरक्षक--पर मां की गोद कहां, मां का प्यार कहाँ, मां का दुलार कहाँ जो बच्चे के विकास में उत्प्रेरक का कार्य करते हैं।

महर्षि की मान्यता थी कि माता शिक्षित हो। सत्यार्थप्रकाश के दूसरे समुल्लास के प्रारम्भ में ही महर्षि लिखते हैं कि **"वह सन्तान बड़ा भाग्यवान जिसके माता और पिता धार्मिक विद्वान हों।"** एक अन्य स्थान पर महर्षि लिखते हैं कि **"बालकों को माता सदा उत्तम शिक्षा करे जिससे सन्तान सभ्य हों।"**

सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में महर्षि ने जहाँ स्त्री-शिक्षा की चर्चा की है वहाँ स्पष्ट लिखा है कि' **यथायोग्य सन्तानोत्पत्ति तथा उनका पालन वर्द्धन और सुशिक्षा** के लिए आवश्यक है कि स्त्री शिक्षित हो।

शिक्षित मां के पूर्ण निर्देशन में पांच वर्ष की आयु तक बालक रहे, यह बालक के हित में ही है।

मां का दायित्व

मां का दायित्व केवल इतना ही नहीं है कि वह भूख लगने पर बच्चे को पौष्टिक भोजन दे दे, ऋतुओं के अनुसार सुन्दर वस्त्रों की व्यवस्था कर दे या खेल खिलौनों को इकट्ठा कर दे। मां के लिए महर्षि का आदेश है कि

"[बालक] जब बोलने लगें तब उसकी माता बालक की जिव्हा जिस प्रकार कोमल होकर स्पष्ट आचरण कर सके वैसा उपाय करे कि जो जिस वर्ण का स्थान, प्रयत्न अर्थात् जैसे 'प' इसका ओष्ठ स्थान और स्पष्ट प्रयत्न दोनों ओष्ठों को मिलाकर बोलना, ह्रस्व दीर्घ, प्लुत अक्षरों को ठीक-ठीक बोल सकना। मधु, गम्भीर, सुन्दर, स्वर, अक्षर, मात्रा पद, वाक्य, संहिता, अवसान भिन्न भिन्न श्रवण होवें।

बालक के भाषा विकास की यही आधुनिक पद्धति भी है। बालक का उच्चारण शुद्ध हो, एक-एक अक्षर ठीक प्रकार से ठीक ढंग से निकले, वाणी दोषरहित हो, यह अत्यावश्यक है। इसका दायित्व मां पर ही है कि शुद्ध उच्चारण का तरीका सिखाये। महर्षि ने उदाहरण के लिए 'प' अक्षर को लिया है। शेष अक्षरों के उच्चारण को इसी प्रकार सिखाये।

अक्षरों के उच्चारण करने की एक वैज्ञानिक पद्धति है जो अत्यन्त ही पुरानी है, पर जिससे उत्तम पद्धति का आज तक आविष्कार नहीं हुआ है। महर्षि ने उसी की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है।

आज दुःख की बात है कि न हम और न हमारी मातायें इस विधि से विज्ञ है। इसीलिए आज के बालक की वाणी भी शुद्ध नहीं है, उसका कण्ठ भी साफ नहीं है। उच्चारण की अशुद्धियाँ एक बुरा प्रभाव डालती हैं और उस बालक की प्रगति में बाधक सिद्ध होती हैं।

इस निर्देश के दूसरे भाग में महर्षि ने भाषा सीखने की आधुनिक विधि को ही प्रस्तुत कर दिया है। महर्षि का सुझाव है कि बालक को हम मधुर

गम्भीर 'सुन्दर, मात्रा, पद, वाक्य' संहिता आदि सुनायें। भाषा विकास का नवीन सिद्धान्त ही है कि बालक के वातावरण में सुन्दर सार्थक शब्दों, वाक्यांशों, मुहावरों को जितने ढंग से सम्भव हैं, प्रसारित कर दें। बालक स्वयं ही वातावरण से पकड़ लेगा, उनको जकड़ लेगा, उनका बार बार प्रयोग उन पर अधिकार प्रदान कर देगा। आज हम मां से अपेक्षा करते हैं कि मधुर स्वर लहरी में बच्चे को लोरी सुनायें, गीत सुनायें--गीतों के प्रति बालक का रुझान है ही—संगीत में आकर्षण शक्ति है ही—गीतों के द्वारा बालक के वातावरण में नये नये शब्दों को प्रविष्ट करा दिया जाता है। छोटे छोटे बच्चों को मां से अपेक्षा की जाती है कि कहानियाँ सुनायें रोचक कहानियाँ, धार्मिक कहानियाँ, ऐतिहासिक कहानियाँ --बच्चों को कहानियाँ प्रिय हैं--इन कहानियों द्वारा नये नये शब्द और नये नये मुहावरे बच्चों के वातावरण में प्रस्तुत किये जाते हैं जहां से कि ये बच्चे उन्हें प्राप्त कर लेते हैं।

महर्षि ने भी यही सुझाव दिया है। जब वे मधुर और स्वर की बात करते हैं तो उनका अभिप्राय उन गीतों से ही होता है जिन्हें कि मां को अपने बच्चों के सम्मुख गाना चाहिये। अक्षर, पद, वाक्य, संहिता से उनका अभिप्राय रोचक कथाओं से ही है।

महर्षि दूसरे समुल्लास में माताओं को आगे सुझाव देते हैं, **"जब वह [बालक] कुछ कुछ बोलने और समझने लगे तब सुन्दर वाणी और बड़े, छोटे मान्य, माता, पिता, राजा विद्वान आदि से भाषण उनसे वर्तमान, और उनके पास बैठने आदि की भी शिक्षा करें। जिससे कहीं उनका अयोग्य व्यवहार न होके सर्वत्र प्रतिष्ठा हुआ करे।"**

आज की भाषा में यदि कहा जाय तो यह कह सकते हैं कि जब बालक में बुद्धि आने लगे तब मां को चाहिये कि वह अपने बच्चे को सामाजिक शिष्टाचार सिखा दें। **शिष्ट भाषा में** परिवार और समाज के व्यक्तियों से व्यवहार करना सिखा दें।

आज हम जिस सामाजिक शिक्षा (Social education) की बात करते

हैं, महर्षि ने उसकी बात एक शताब्दी पूर्व की थी। सर्व प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए बालक को व्यवहार कुशल बनने की रीति सीखना अत्यन्त ही आवश्यक है।

महर्षि आगे लिखते हैं कि **जैसे सन्तान जितेन्द्रिय, विद्याप्रिय और सत्संग में रुचि करें वैसा प्रयत्न करते रहें। ....सदा सत्य भाषण, शौर्य, धैर्य, प्रसन्न वदन आदि गुणों की प्राप्ति जिस प्रकार हो करावें।"**
संक्षेप में महर्षि का आदेश है कि जहाँ तक सम्भव हो, बच्चे में अच्छे गुणों को ग्रहण करने में मां सहायक हो। इन गुणों की चर्चा विस्तार से द्वितीय अध्याय में की जा चुकी है।
महर्षि का यह भी आदेश है कि **"व्यर्थ क्रीड़ा, रोदन, हास्य, लड़ाई, हर्ष, शोक, किसी पदार्थ में लोलुपता, ईर्ष्या, द्वेष, आदि न करें।**

महर्षि ने मां के कर्त्तव्यों में यह भी समावेश किया है कि वे अपने बच्चे को दुर्गुण सीखने से रोकें। उनमें खराब आदतें न पैदा होने दें।

पांच वर्ष की अवस्था तक बालक के व्यक्तित्व का ढांचा तैयार हो जाता है। यह काल बालक के विकास का अत्यन्त ही महत्वपूर्ण समय है। जैसी आदतें बचपन में बन जायेंगी, वैसी जीवन के आगे तक चलेंगी। बच्चों को जो गुण सिखाना चाहें, इस आयु में सहज ही सिखा सकते हैं। कहा जाता है कि इस वय में तो बालक खाली पट्टी की तरह है। जो चाहो लिख दो। वह तो मुलायम मिट्टी है। जो आकृति देना चाहो, दे लो।

महर्षि ने इसीलिए शिक्षा के इस भाग को महत्व दिया है और इसका दायित्व मां को सौंपा है।

जब मां अपने बालक को यह सब सिखा ले और बालक पांच वर्ष का हो जाय तब—महर्षि के अनुसार **"देवनागरी अक्षरों का अभ्यास करावें। अन्य देशीय भाषाओं के अक्षरों का भी।"**
आधुनिक शिशु शिक्षा में भी अक्षरों के सिखाने को शिक्षा के इसी क्रम में रक्खा है। आधुनिक शिशु शिक्षा सिद्धान्त के अनुसार बच्चों को पांच वर्ष की आयु

तक सामान्य शिक्षा दी जाये और फिर इस वय के पहुँचने पर उनकी औपचारिक शिक्षा (formal education) शुरू की जाय।

अब हम त्रिभाषीय सूत्र की चर्चा करते हैं महर्षि ने एक से अधिक लिपि सीखने की बात आज से सौ वर्ष पूर्व की थी। विभिन्न लिपियों का ज्ञान देश के भिन्न भिन्न भाषाओं के भाषियों के एक दूसरे के निकट लायेगा।

इसी द्वितीय समुल्लास में महर्षि आदेश देते हैं कि **"जिनसे अच्छी शिक्षा विद्या, धर्म, परमेश्वर, माता, पिता, आचार्य, विद्वान अतिथि, राजा, प्रजा, कुटुम्ब, बन्धु, भगिनी, भृत्य आदि में कैसे कैसे वर्त्तना इन बातों के मंत्र, श्लोक सूत्र, गद्य, पद्य, भी अर्थ सहित कण्ठस्थ करायें। जिनसे सन्तान किसी धूर्त के बहकाने में न आवें और जो जो विद्या धर्म विरुद्ध भ्रान्तिजाल में गिराने वाले व्यवहार हैं उनका भी उपदेश कर दें जिससे भूत प्रेत आदि मिथ्या बातों का विश्वास न हो।"**

यहाँ महर्षि का अभिप्राय है कि अन्य उपयोगी विषयों को लिपि सिखाने के बाद सिखाया जाय। बच्चों को धर्म के विषय में और परमेश्वर के विषय में भी बतायें। विभिन्न विद्याओं को भी पढ़ाया जाय। सामाजिक शिष्टाचार भी सिखाया जाय।

और सबसे उल्लेखनीय बात है कि महर्षि ने सुझाव दिया है कि इन समस्त ज्ञानों को बालक मंत्र, श्लोक, पद्य के माध्यम से प्राप्त करे। अर्थात् बालक को ऐसे मंत्र, श्लोक और कवितायें या गीत कण्ठस्थ करा दिये जाये जिनमें इन विभिन्न विद्याओं की चर्चा हो। आज के शिशु गीतों की ओर ही वस्तुतः महर्षि का संकेत था।

आज शिशु शिक्षा के कार्य्यक्रम में शिशु–गीतों का एक प्रमुख स्थान है। शिशु गीत ही शिशु शिक्षा के प्राण हैं। इन शिशु गीतों के द्वारा ही हम अपने छोटे छोटे बच्चों को नवीन ज्ञान प्रदान करते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में भूतप्रेत एक समस्या बने हुये थे। महर्षि ने इसी लिए इन विषय में भी चर्चा की है।

पिता का दायित्व

महर्षि का सुझाव है कि ६ वर्ष से ८ वर्ष की आयु तक बालक की शिक्षा का दायित्व पिता पर रहे।

माँ को घर का व्यक्ति और पिता को बाहर का व्यक्ति समझा जाता है। जब बालक छठे वर्ष में प्रवेश करता है, उनका रुझान घर के बाहर की दुनियाँ की ओर हो जाता है। वह द्वार पार कर अपने चबूतरे पर खड़ा बाह्य-संसार से परिचित होने का इच्छुक रहता है। बाहर के व्यक्ति, बाहर की वस्तुयें, बाहर की क्रियायें उसे आर्कषित करती हैं।

वह बाहर जाना चाहता है, पर उसमें आत्म विश्वास का अभाव है, बाहरी ज्ञान की कमी है। इस कमी की पूर्ति के लिए उसे पिता का सहारा चाहिए जो सांसारिक बातों में निपुण हैं।

महर्षि ने पिता के दायित्व की चर्चा की है, यह शिक्षा शास्त्र के लिए नई बात हैं। यह उनकी अनुपम देन है शिक्षा शास्त्र को।

विद्यालय में प्रवेश—

महर्षि का आदेश है कि "**९वें वर्ष के आरम्भ में अपने सन्तानों का उपनयन करके आचार्यकुल में अर्थात् जहाँ पूर्ण विद्वान और पूर्ण विदुषी स्त्री शिक्षा और विद्यादान करने वाली हों वहाँ लड़के और लड़कियों को भेज दें।**"

सत्यार्थ प्रकाश के तीसरे समुल्लास में भी महर्षि ने लिखा है कि "**आठ वर्ष के हों तभी लड़कों को लड़कों की और लड़कियों को लड़कियों की शाला में भेज देवें।**" प्राथमिक विद्यालय में आज ६ वर्ष का बालक प्रविष्ट कर लिया जाता है।

महर्षि ने जब ८ वर्ष की आयु प्रवेश के लिए न्यूनतम आयु के रूप में निर्धारित की थी, उनका अभिप्राय उन विद्यालयों में प्रवेश का था जहाँ कि

बालक विद्यालय में ही छात्रावास में रहेंगे। उनके मस्तिष्क में गुरुकुल की कल्पना रही होगी। आज भी पब्लिक स्कूलों में बच्चे ८ वर्ष की आयु के बाद ही प्रविष्ट किये जाते हैं।

छात्रावास में रहने के लिये छात्र में आत्मनिर्भर रहने की क्षमता होनी चाहिए। आत्म निर्भरता और आत्म विश्वास ८ वर्ष की आयु में आने लगती है।

विद्यालय में शिक्षा पद्धति

महर्षि ने लिखा है कि विद्यालय में "**आचार्य समाहित होकर ऐसी रीति से विद्या और सुशिक्षा करें कि जिससे उसके आत्मा के भीतर सुनिश्चित अर्थ होकर उत्साह ही बढ़ता जाय। ऐसी चेष्टा या कर्म कभी न करें कि जिसको देख वा करके विद्यार्थी अधर्मयुक्त हो जावें। दृष्टान्त, हस्तक्रिया, यन्त्र, कला कौशल, विचार आदि से विद्यार्थियों के आत्मा में पदार्थ इस प्रकार साक्षात करावें कि एक के जानने से हजारों पदार्थ यथावत् जाने जाँय।**"

महर्षि ने जिस शिक्षण पद्धति की ओर संकेत किया है उसकी मुख्य विशेषतायें निम्न हैं :–

(१) ज्ञान आत्मसात हो जाय। अर्थात् शिक्षक इस प्रकार से पढ़ाये कि एक एक शब्द स्वत: ही बिध जाये। छात्र को कठिनाई न हो। महर्षि का आशय था कि शिक्षक का ढंग रोचक हो, एक एक बात को शिक्षक इस प्रकार विस्तार से समझाये कि कक्षा के भीतर ही वह ग्रहण हो जाय।

(२) शिक्षण का ढंग ऐसा हो कि छात्र की रुचि ज्ञानोपार्जन में बढ़ती ही जाय। यदि कोई विषय शिक्षक ठीक ढंग से प्रस्तुत नहीं कर पाते और छात्रों को उसे समझने में कठिनाई होती है तो छात्र निरुत्साहित

हो जाते हैं। शिक्षक का कार्य है कि वे देखें कि छात्र अपने पठन-पाठन में रुचि ले रहे हैं या नहीं।

(३) महर्षि ने संकेत किया है कि छात्रों में अनुकरण की भावना निहित है। शिक्षक का जीवन आदर्शमय होना चाहिए। वे मानते थे कि जैसा गुरू वैसा शिष्य। शिक्षक के आचरण में यदि कुछ दोष हैं तो छात्रों में उन दोषों का आ जाना स्वाभाविक ही है। छात्र दोष-युक्त न हो जांय, या महर्षि की भाषा में वे अधर्मयुक्त न हो जांय, यह देखना शिक्षक का ही कार्य है और शिक्षक का ही दायित्व है।

(४) विषय का प्रतिपादन करते समय शिक्षक उचित दृष्टान्तों का सहारा ले। बालक अभी अल्प-अनुभवी और अल्प ज्ञानी हैं। मस्तिष्क उनका विकसित नहीं है। सूत्रीय ज्ञान को प्रस्तुत करने से कार्य नहीं चल सकता, उन्हें समझाया नहीं जा सकता। आवश्यकता है कि शिक्षक अपने पाठ को दृष्टान्तों से भर दें।

(५) "यन्त्र, हस्तक्रिया, कलाकौशल" से महर्षि का अभिप्राय है कि विषयों के समझाने के लिए जो आवश्यक हों, उन उपकरण को व्यवहार में लाया जाय। उनका संकेत विज्ञान के विषयों की ओर हो सकता है। बिना थरमामीटर को सम्मुख रक्खे, थरमामीटर का ज्ञान अपूर्ण ही रहता है। बिना तुला को प्रस्तुत किये हुये तुला का पूर्ण ज्ञान नहीं दिया जा सकता है। इसलिए उपकरणों का मुक्त रीति से उपयोग किया जाय।

यहाँ यन्त्र से महर्षि का आशय "मॉडल" आदि से भी हो सकता है। भूगोल की शिक्षा प्रदान करने के लिए ग्लोब और नक्शों की आवश्यकता पड़ेगी ही।

हस्त-क्रिया और कला कौशल बड़े ही व्यापक शब्द हैं। इनसे महर्षि के निम्न अभिप्राय हो सकते हैं :—

(i) छोटे छोटे बच्चे हाथ से कार्य करें। महर्षि ने यदि विस्तार से लिखा होता तो वे अवश्य ही मिट्टी के खिलौने बनाने की चर्चा करते। आज शिशु विद्यालयों में जो हस्त-क्रियायें सिखाई जाती हैं, उनकी ओर ही महर्षि का संकेत है।

आज शिशु शिक्षा में हाथ के उपयोग को विशेष महत्व दिया गया है। बच्चों को स्वयं कार्य करने में विशेष रुचि रहती है। उनकी रचनात्मक प्रवृत्ति को हस्त क्रियाओं से बढ़ावा मिलता है।

(ii) गांधी जी द्वारा दी गई बेसिक शिक्षा में जिन क्राफ्टों का वर्णन है, महर्षि का संकेत इनकी ओर भी था। 'कला-कौशल' में धागा कातने से लेकर कपड़ा बुनने तक सभी आ सकता है। कुम्हार का कार्य या अन्य छोटे छोटे कौशल जो भविष्य में उपयोगी सिद्ध हों, उनकी ओर भी संकेत महर्षि का था। बागबानी भी इसमें ली जा सकती है।

(iii) कला-कौशल से महर्षि का अभिप्राय विभिन्न ललित कलाओं से भी हो सकता है। संगीत, चित्रकला, वास्तुकला तो महर्षि के समय में भी चरम-सीमा पर थी। महर्षि अवश्य ही चाहते होंगे कि उनके देशवासी इन प्राचीन कलाओं से भी विज्ञ हों।

(iv) यन्त्र और हस्त क्रिया से महर्षि का संकेत आधुनिक प्रयोगशालाओं की ओर भी हो सकता है। विद्यार्थी प्रयोगशालाओं में आज यन्त्रों का व्यवहार करके अपने हाथ से प्रयोग करके नये ज्ञान का अर्जन करता है।

(६) महर्षि ने एक मार्के की बात यहाँ लिखी है कि शिक्षक ऐसा पढ़ाये कि **"एक के जानने से हजारों पदार्थ यथावत् जाने जांय।"** अर्थात् शिक्षक विद्या

को व्यापक रूप से पढ़ाये। विषय के मूल तत्वों को शिक्षक अपने छात्र के सम्मुख रक्खे। विषय का सामान्य ज्ञान वह दे। तत्वों का ज्ञान हो जाने पर, मूल बातें समझ में आने पर शेष ज्ञान छात्र स्वयं उपलब्ध कर लेगा। आज अंग्रेजी में जिसे Spoon feeding कहते हैं, वह न हो। ज्ञान अपार है। सभी बातें बताना शिक्षक का कार्य नहीं। उसका तो कार्य है कि मार्ग पर छात्र को छोड़ दे, थोड़ी दूर उसके साथ चल ले। जब छात्र स्वयं आगे बढ़ने लगे तो वह हट जाय। छात्र को तो स्वयं ही मार्ग तय करना है।

शिक्षा सिद्धान्त की वर्तमान कल्पना भी तो यही है।

यौन शिक्षा

एक समय था, अधिक दूर नहीं, केवल ५० वर्ष पूर्व ही जब हम अपने बच्चों को यौन-ज्ञान से बचा कर रखते थे। हम यह भी नहीं चाहते थे कि हमारे बच्चों को इसका आभास भी हो। फिर एक दम आवाज उठी कि "बच्चों को यौन शिक्षा दो" और यह विवादास्पद प्रश्न बन गया। धर्म के ठेकेदारों ने यह व्यवस्था दी कि बालकों को यौन शिक्षा न दी जाय। पर आधुनिक शिक्षाविदों ने इसके पक्ष में अपने हाथ उठाये। आज यौन-शिक्षा को शिक्षा के कार्यक्रम में स्थान देने का प्रयास किया जा रहा है।

महर्षि ने यौन शिक्षा पर बल दिया है। उन्होंने माता-पिता को निर्देश किया है कि वे अपने बच्चों को शिक्षा दें—

"देखो जिसके शरीर में सुरक्षित वीर्य रहता है तब उसको आरोग्य, बुद्धि, बल, पराक्रम बढ़ के बहुत सुख की प्राप्ति होती है। इसके रक्षण में यही रीति है कि विषयों की कथा, विषयी लोगों का संग, विषयों का ध्यान, स्त्री का दर्शन, एकान्त सेवन, संभाषण और स्पर्श आदि कर्म से ब्रह्मचारी लोग पृथक रहकर उत्तम शिक्षा और पूर्ण विद्या को प्राप्त करते हैं वैसे तुम भी रहकर उत्तम शिक्षा और पूर्ण विद्या को प्राप्त होना। जिसके शरीर में वीर्य नहीं होता, वह नपुंसक महाकुलक्षणी और जिसको प्रमेह रोग होता है वह

दुर्बल, निस्तेज, निर्बुद्धि, उत्साह, साहस, धैर्य, बल, पराक्रमादि गुणों से रहित होकर नष्ट हो जाता है। जो तुम लोग सुशिक्षा और विद्या के ग्रहण वीर्य की रक्षा करने में इस समय चूकोगे तो पुनः इस जन्म में तुमको यह अमूल्य समय प्राप्त नहीं हो सकेगा। जब तक हम लोग गृह कर्मों के करने वाले जीते हैं तभी तक तुमको शिक्षा ग्रहण और शरीर का बल बढ़ाना चाहिए।"

तृतीय समुल्लास में भी महर्षि ने लिखा है कि **"जब तक वे ब्रह्मचारी वा ब्रह्मचारिणी रहें तब तक स्त्री वा पुरुष का दर्शन, स्पर्शन, एकान्त सेवन, भाषण, विषयकथा, परस्पर क्रीड़ा, विषय का ध्यान और संग इन आठ प्रकार के मैथुनों से अलग रहें।"**

बिना यौन शिक्षा प्रदान किये यह कैसे सम्भव है ?

[५]

उच्च शिक्षा

उच्च शिक्षा के सम्बन्ध में महर्षि के विचार अत्यन्त ही रोचक हैं। सम्भवत: आज का शिक्षाविद् उनसे सहमत न हो, पर उसे यह अवश्य मानना पड़ेगा कि महर्षि की शिक्षित व्यक्ति की अपनी कल्पना थी और यह कल्पना उस युग द्वारा प्रभावित थी जिसमें महर्षि ने जन्म लिया था और जब इनका लालन-पालन हुआ था, और महर्षि ने जो विचार दिये थे, वे विचार अपनी कल्पना के इस मनुष्य के निर्माण हेतु दिये थे।

महर्षि ने जिस भू भाग में जन्म लिया था, वहाँ संस्कृत का बोल बाला था। संस्कृत भाषा और संस्कृत के ग्रन्थों का ही अध्ययन किया था महर्षि ने बचपन में। महर्षि के माता-पिता शिव के भक्त थे और आज की शब्दावली में पूर्णत: सनातनी थे। आर्ष और अनार्ष सभी ग्रन्थों को महर्षि ने पढ़ा था।

यह उन्नीसवीं शताब्दी का प्रारम्भ ही था। अंग्रेज भारत में आ तो गये थे पर जम नहीं पाये थे। अंग्रेजी भाषा और पाश्चात्य शिक्षा का नाम भी न था। जिन विषयों के पठन-पाठन की बात चलती थीं वे थे धर्म शास्त्र, औषधि शास्त्र [केवल आयुर्वेद–ही चरक का प्रभाव था], धनुर्विद्या, गान्धर्व-विद्या, शिल्प विद्या, ज्योतिष शास्त्र। महर्षि ने अपने विचार इन्हीं तक सीमित रक्खे थे। उनसे यह अपेक्षा भी नहीं की जा सकती कि वे आज के विषयों की बात करते।

महर्षि प्रमुखत: मार्ग-दर्शक थे। उनकी इच्छा थी कि प्रत्येक मनुष्य सर्वगुण सम्पन्न बने, प्रत्येक विषय में पारंगत हो। वह विशेषज्ञों का युग न था। उस युग में हर व्यक्ति प्रत्येक विद्या में दखल रखता था। महर्षि ने भी यदि यही कल्पना की थी तो असंगत न था। यह बात केवल अपने देश

में ही न थी। विदेशों में, विशेषत: इंग्लैंड में भी गिरजाघर का पादरी धर्म ग्रन्थों का विद्वान होता था, संगीत का ज्ञान भी उसे होता था, धार्मिक गीतों को वह गाता था, शिक्षा के प्रसार में भी वह भाग लेता था और बीमारों को औषधि भी देता था।

महर्षि ने उच्च शिक्षा का जो कार्यक्रम निर्धारित किया है, वह निम्न प्रकार है :—

[१] भाषा का ज्ञान – उच्चारण, व्याकरण,

[२[धर्म शास्त्रों का अध्ययन,

[३] आयुर्वेद का अध्ययन,

[४] धनुर्वेद का अध्ययन,

[५] गान्धर्व वेद का अध्ययन,

[६] अर्थवेद या शिल्प विद्या का अध्ययन,

[७] ज्योतिष शास्त्र का अध्ययन,

[८] हस्तक्रिया, यन्त्रकला आदि का अध्ययन,

इस कार्यक्रम को, महर्षि के अनुसार, बीस यां इक्कीस वर्ष में समाप्त किया जा सकता है। महर्षि ने इन विषयों को विस्तार से भी लिखा है। उन्होंने यथा सम्भव इन विषयों का विवरण भी दिया है।

(१) भाषा का ज्ञान —

सबसे पहले छात्र को अक्षरों का उत्तम ज्ञान देना चाहिए, शुद्ध उच्चारण सिखाना चाहिए। महर्षि ने निर्धारित किया है कि

"प्रथम पाणिनि मुनि कृत शिक्षा जो कि सूत्ररूप है उसकी रीति अर्थात इस अक्षर का यह स्थान, यह प्रयत्न, यह करण है, जैसे 'प' इसका ओष्ठ

स्थान, स्पृष्ट प्रयत्न और प्राण तथा जीभ की क्रिया करनी करण कहाता है। इसी प्रकार यथायोग्य सब अक्षरों का उच्चारण माता, पिता, आचार्य सिखलावें।

व्याकरण :—व्याकरण में महर्षि का सुझाव था कि पहले 'अष्टाध्यायी के सूत्रों का पाठ' कराया जाय। 'जिस जिस सूत्र से जो कार्य होता है उसको पढ़ पढ़ा के और लिख लिखवा कर कार्य कराता जाय''।

इसके बाद 'धातुपाठ अर्थसहित और दस लकारों के रूप तथा प्रक्रिया सहित सूत्रों के उत्सर्ग' पढ़ाये जाँय।

'धातुपाठ के पश्चात उणादिगण के पढ़ाने में सर्व सुबन्त का विषय अच्छे प्रकार पढ़ा के पुनः दूसरी बार शङ्का, समाधान, वार्त्तिक, कारिका, परिभाषा की घटनापूर्वक अष्टाध्यायी की द्वितीयावृत्ति पढ़ाये।

तदनन्तर महाभाष्य पढ़ावे।

महर्षि का ख्याल था कि 'डेढ़ वर्ष में अष्टाध्यायी और डेढ़ वर्ष में महाभाष्य पढ़के तीन वर्ष में पूर्ण वैयाकरण' बनाया जा सकता है।

महर्षि व्याकरण को बड़ा ही महत्व देते थे। "जैसा बड़ा परिश्रम व्याकरण में होता है वैसा श्रम अन्य शास्त्रों में करना नहीं पड़ता।"

(२) धर्मशास्त्र का अध्ययन

व्याकरण को पढ़ के यास्क मुनि कृत निघण्टु और निरुक्त छः व आठ महीने में सार्थक पढ़ें और पढ़ावें।

तदनन्तर पिङ्गलाचार्यकृत छन्दोग्रन्थ पढ़ाया जाय। इस ग्रन्थ को पढ़ने से 'वैदिक लौकिक छन्दों का परिज्ञान, नवीन रचना और श्लोक बनाने की रीति यथावत सीखी जा सकती है। यह कार्य चार माह में किया जा सकता है।

'तत्पश्चात् मनुस्मृति, वाल्मीक रामायण और महाभारत के उद्योग-पर्वान्तर्गत विदुरनीति आदि अच्छे अच्छे प्रकरण को काव्यरीति से अर्थात् पदच्छेद, पदार्थोक्ति, अन्वय, विशेष्य, विशेषण और भावार्थ को अध्यापक लोग जनावें और विद्यार्थी लोग जानते जायें।'

इनको एक वर्ष के भीतर पढ़ा जाय।

'तदनन्तर ईश, केन, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य ऐतरेय, तैतिरीय छान्दोग्य और बृहदारण्यक इन दस उपनिषदों को पढ़ के छः शास्त्रों के भाष्य वृत्तिसहित सुत्रों को दो वर्ष के भीतर पढ़ावें और पढ़ लेवें।

तदनन्तर पूर्व मीमाँसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदान्त अर्थात् जहां तक बन सके वहाँ तक ऋषि-कृत व्याख्यासहित अथवा उत्तम विद्वानों की सरल व्याख्या युक्त छः शास्त्रों को पढ़ें और पढ़ावें।'

इसके पश्चात् छः वर्षों के भीतर चारों ब्राह्मण अर्थात् ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ ब्राह्मणों के सहित चारों वेदों के स्वर, शब्द, अर्थ, सम्बन्ध तथा क्रिया सहित पढ़ना योग्य है।'

(३) आयुर्वेद का अध्ययन

महर्षि का मत था कि इन धर्म-शास्त्रों में परिपक्वता पा लेने के बाद ४ वर्ष तक आयुर्वेदिक विज्ञान का अध्ययन किया जात। आयुर्वेद में चरक, सुश्रुत आदि मुनियों ने संहितायें लिखी हैं। इन ग्रन्थों के द्वारा क्रिया, शस्त्र, छेदन, भेदन, लेप, चिकित्सा, निदान, औषध, पथ्य, शरीर, देश, काल वस्तु के गुणों का अध्ययन किपा जाय।

(४) धनुर्वेद का अध्ययन

व्यक्ति को राज सम्बन्धी काम भी आने चाहिये। जैसा महर्षि का मत था।

राजकार्य में सभा सेना के अध्यक्ष, शस्त्रास्त्र विद्या नाना प्रकार के व्यूहों का अभ्यास अर्थात् जिसको आजकल 'कवायद' कहते हैं जो कि शत्रुओं से लड़ाई

के समय में क्रिया करनी होती है, उनको यथावत् सीखें और जो जो प्रजा के पालन और वृद्धि करने का प्रकार है उनको सीख के न्यायपूर्वक सब प्रजा को प्रसन्न रक्खें, दुष्टों को यथायोग्य दण्ड, श्रेष्ठों के पालन का सब प्रकार सीख लें।'

इस राजविद्या को दो वर्ष में सीखा जा सकता है।

(५) गान्धर्ववेद का अध्ययन

राजविद्या को सीखने के बाद **गान विद्या** को सीखना चाहिये।

गान विद्या में '**स्वर, राग रागिणी, समय, ताल, ग्राम, तान, वादित्र, नृत्य, गीत आदि को यथावत्** सीखें।

मुख्यतः '**सामवेद का ज्ञान** वादित्र–वादन पूर्वक **सीखें** और **नारद संहिता आदि जो जो आर्ष ग्रन्थ हैं, उनको पढ़े**।'

(६) अर्थवेद का अध्ययन

अर्थवेद को शिल्प विद्या भी कहते हैं। '**उसको पदार्थ गुण विज्ञान, क्रिया कौशल, नानाविध पदार्थों का निर्माण, पृथ्वी से लेके आकाश पर्यन्त विद्या को यथावत् सीख के अर्थ अर्थात् जो ऐश्वर्य, को बढ़ाने वाला है, उस विद्या को सीख ले।**

यह विद्या भी दो वर्ष का समय ले ही लेगी।

(७) ज्योतिष शास्त्र का अध्ययन

इस अध्ययन के लिए भी महर्षि ने दो वर्ष का समय निर्धारित किया है। इसके अन्तर्गत **बीजगणित, अङ्क, भूगोल, खगोल और भूगर्भ–विद्या को यथावत् सीखें।**

(८) हस्त क्रिया और यन्त्र कला का अध्ययन

सबसे अन्त में हस्त क्रिया और यन्त्र कला का अध्ययन करना चाहिये।

यह उस पाठ्यक्रम का संक्षिप्त रूप है जो कि महर्षि ने निर्धारित किया था उच्च शिक्षा के प्रचलित कार्य क्रम से यह बिलकुल ही भिन्न है। आज

तो हम विभिन्न विषयों के बिशेषज्ञ बनाने में लगे हुये हैं। महर्षि तो एक ही व्यक्ति में सभी गुण भरने की इच्छा रखते थे।

पठन योग्य पुस्तकें

महर्षि ने सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में पठन योग्य पुस्तकों की एक लम्बी सूची दी हैं। इनमें वे ही ग्रन्थ हैं जो उस समय तक ऋषि को उपलब्ध थे।

मुख्य पुस्तकें जिनका समावेश महर्षि ने इस सूची में किया है' निम्न हैं:-
पूर्व मीमांसा पर व्यास मुनि कृत व्याख्या,
वैशेषिक पर गौतम मुनिकृत प्रशस्त पाद भाष्य,
गौतम मुनिकृत न्यायसूत्र पर वात्स्यायन मुनिकृत भाष्य,
पतञ्जलि मुनिकृत सूत्र पर व्यास मुनिकृत भाष्य,
कपिल मुनिकृत सांख्यसूत्र पर भागुरि मुनिकृत भाष्य,
व्यास मुनिकृत वेदान्त सूत्र पर वात्स्यायन मुनिकृत भाष्य,
अथवा बोधायन मुनिकृत भाष्य ;
ऋग् यजु, साम और अथर्व वेद,
ऐतरेय, शतपथ, साम गोपथ ब्राह्मण,
शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निघण्टु, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष छ: वेदों के अंग मीमांसादि छ: शास्त्र,
आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, और अर्थवेद।

इस सूची को देने के बाद भी महर्षि ने सावधान किया है, **"इनमें भी जो-जो वेदविरुद्ध प्रतीत हों उस उसको छोड़ देना।"**

महर्षि वेदों को ईश्वरकृत मानते थे और वेदों को दोषरहित—स्वतः प्रमाणित समझते थे।

महर्षि कहते थे कि ऋषि **प्रणित ग्रन्थों को इसी लिए पढ़ना चाहिये कि वे बड़े विद्वान सर्वशास्त्रवित और धर्मात्मा थे।**

परित्याग योग्य ग्रन्थ

महर्षि का मत था कि अनृषि–कृत ग्रन्थों को कभी नहीं पढ़ना चाहिये। महर्षि के अनुसार अनृषि वे हैं **जो अल्प शास्त्र पढ़े हैं और जिनका आत्मा पक्षपात सहित है।'**

महर्षि ने उन ग्रन्थों की सूची भी सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में दी है जिनको कभी भी नहीं पढ़ना चाहिये। परित्याग–योग्य मुख्य ग्रन्थ निम्न हैं :–

व्याकरण में कातन्त्र, सारस्वत, चन्द्रिका, मुग्धबोध, कौमुदी, शेखर, मनोरमादि।

कोश में अमरकोशादि।

छन्दोग्रन्थ में वृत्तरत्नाकरादि।

ज्योतिष में शीघ्रबोध, मुहूर्त्त चिन्तामणि आदि।

काव्य में नायिकाभेद, कुवलयानन्द, रघुवंश, माघ, किरातार्जुनीयादि।

मीमांसा में धर्मसिन्धु, व्रताकादि।

वैशेषिक में तर्क संग्रहादि।

न्याय में जागदीशी आदि।

योग में हठ प्रदीपिकादि।

सांख्य में सांख्यतत्व कौमुद्यादि।

वेदान्त में योगवाशिष्ठ पञ्च दश्यादि।

वैद्यक में शार्ङ्गधिरादि।

स्मृतियों में मनुस्मृति के प्रक्षिप्त श्लोक छोड़कर।

इस सूची में सब तन्त्र ग्रन्थ, सब पुराण, सब उप पुराण, तुलसीदास कृत भाषा रामायण' रुक्मिणी मङ्गलादि और सर्व भाषाग्रन्थ भी शामिल हैं।

महर्षि इन ग्रन्थों को मिथ्या ग्रन्थ कहते थे।

मेरा अपना निश्चित मत है कि यदि महर्षि आज जीवित होते और वे किसी आधुनिक पुस्तकालय में चले जाते इतनी पुस्तकें देखकर वस्तुतः बहुत ही प्रसन्नता होती और वे निन्यानवें प्रतिशत पुस्तकों का आर्ष–ग्रन्थ की ही सूची में समावेश कर देते। कथा–साहित्य को छोड़ कर सभी साहित्य सत्य–आधारित हैं विशद–अध्ययन के परिचायक हैं।

स्त्री-शिक्षा

यह निर्विवाद सत्य है कि इस युग में महर्षि दयानन्द ही सर्व प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने कि अखिल भारतीय स्तर पर स्त्री–शिक्षा का समर्थन किया। उनके मरने के बाद आर्य्य समाज ने इसके प्रसार का अपने कार्य्यक्रम में समावेश किया और देश के कोने–कोने स्त्रियों की शिक्षा के केन्द्र खोल दिये। समानाधिकार की आवाज भी महर्षि ने उठाई थी और कहा था कि कोई यज्ञ पूर्ण नहीं माना जा सकता जब तक पति–पत्नी दोनों एक साथ ही उसे सम्पादित न करें।

महर्षि के समय में स्त्रियाँ घरों में बन्द सी रहती थीं और उनकी शिक्षा का विरोध था।

स्त्रीशूद्रौ नाधीयातामिति श्रुतेः

स्त्री और शूद्र न पढ़ें, यह श्रुति है।

महर्षि ने फटकारा– '**यह श्रुति केवल कपोल कल्पना है। सभी स्त्री और पुरुष अर्थात् मनुष्यमात्र को पढ़ने का अधिकार है।**''

और यहीं तक नहीं, महर्षि ने यह भी कह दिया, "**जो स्त्रियों के पढ़ने का निषेध करते हो वह तुम्हारी मूर्खता, स्वार्थता और निर्बुद्धिता का प्रभाव है।**''

सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में महर्षि ने वेदों से अनेक वेद मंत्रों को उद्धृत कर यह पुष्टि की है कि स्त्रियों को वेदादि धर्म ग्रन्थ भी पढ़ने चाहिये।

स्त्री–शिक्षा का समर्थन क्यों ?

महर्षि दयानन्द ने स्त्री–शिक्षा का समर्थन क्यों किया ? महर्षि का तर्क था कि—

(१) **जैसे परमात्मा ने पृथ्वी, जल,** अग्नि, **वायु, चन्द्र, सूर्य और अन्नादि पदार्थ सबके लिए बनाऐ हैं। वैसे ही वेद भी सबके लिये प्रकाशित किये हैं। क्या ईश्वर पक्षपाती है** ?

(२) **मनुष्य मात्र को पढ़ने का अधिकार है।**

(३) यह श्रुति कि स्त्री न पढ़ें, **किसी प्रामाणिक ग्रन्थ की नहीं है।**

(४) वेदों में स्पष्ट दिया हुआ है कि स्त्रियाँ सुशिक्षित विदुषी बनें और वेद भी पढ़ें।

(५) इतिहास साक्षी है कि **भारतवर्ष की स्त्रियों में भूषण रूप गार्गी आदि वेदादि शास्त्रों को पढ़ के पूर्ण विदुषी हुई थीं।**

(६) **भला जो पुरुष विद्वान और स्त्री अविदुषी जो स्त्री विदुषी और पुरुष अविद्वान हो तो नित्यप्रति देवासुर संग्राम घर में मचा रहे और फिर सुख कहाँ ?**

(७) **ग्रहकर्म का कार्य्य जो पति को स्त्री और स्त्री को पति प्रसन्न रखना, घर के सभी काम स्त्री के आधीन रखना, इत्यादि काम बिना विद्या के अच्छे प्रकार कभी ठीक नहीं हो सकते।**

(८) **जो स्त्री न पढ़े, तो कन्याओं की पाठशाला में अध्यापिका क्योंकर हो सकें ?**

और महर्षि ने विरोध किया—

(९) **जो परमेश्वर का अभिप्राय स्त्री शूद्रादि के पढ़ाने सुनाने का न होता तो इनके शरीर में वाक् और श्रोत्र क्यों रचता ?**

स्त्री शिक्षा अनिवार्य्य रूप से

महर्षि का मत था कि बालक की शिक्षा की भांति बालिकाओं की शिक्षा भी अनिवार्य कर दी जाय। ८ वर्ष पूरा करने के बाद उन्हें भी पाठशालाओं में भेजा जाय। उन्होंने लड़कियों को किसी प्रकार की छूट नहीं दी—यदि वे आठ वर्ष के पश्चात घर में रहें तो माता-पिता को दण्ड दिया जाय, ऐसा

उनका मत था।

सह—शिक्षा के विरुद्ध

महर्षि सह–शिक्षा के विरुद्ध थे। उन्होंने लड़कियों की पृथक पाठशाला की कल्पना की थी। वे चाहते थे कि

(i) लड़कियों की पाठशाला लड़कों के विद्यालयों से दो कोस दूर हों।
(ii) लड़कियों की पाठशाला में सब अध्यापन कार्य और सेवा कार्य के लिए केवल स्त्रियाँ ही नियुक्त हों।
(iii) स्त्रियों की पाठशाला में पाच वर्ष का लड़का और पुरुषों की पाठशाला में पांच वर्ष की लड़की भी न जाने पावे।

स्त्री–शिक्षा का कार्यक्रम

महर्षि यह मानते थे कि पुरुषों की भांति ही स्त्री को भी शिक्षित करना चाहिये और साथ में यह भी मानते थे कि प्रत्येक स्त्री के लिए एक समान न्यूनतम कार्य्यक्रम अवश्य हो। उनका मत था कि स्त्री शिक्षा का स्थान घर के अन्दर है, सभी स्त्रियों को एक सा कार्य तो अवश्य करना ही होता है, गृहस्थी का संचालन, इसीलिए उन्हें जो शिक्षा मिले वह उनमें गृहस्थी के संचालन की क्षमता अवश्य उत्पन्न कर सके।

न्यूनतम पाठ्यक्रम

जो न्यूनतम पाठ्यक्रम महर्षि ने स्त्रियों के लिये निर्धारित किया है वह इस प्रकार है :–

(१) व्याकरण,
(२) धर्म,
(३) वैद्यक,
(४) गणित,
(५) शिल्पविद्या।

व्याकरण—इसके बिना स्त्रियों को भाषा पर अधिकार नहीं आ सकता। वे धर्म-शास्त्रों को पढ़ नहीं सकतीं और उनका उचित आशय नहीं निकाल सकतीं। व्याकरण सीख लेने पर मिथ्या अर्थ की सम्भावना नहीं रह जाती।

धर्म—धर्म के मूल तत्वों का ज्ञान तो सभी के लिए आवश्यक है, पर स्त्रियों के लिए इसका महत्व अधिक है। घर में धार्मिक वातावरण उत्पन्न करने में गृह-लक्ष्मी का विशेष हाथ रहता है। धार्मिक वातावरण में पले बच्चे धार्मिक ही होंगे। घर के सभी व्यक्ति धार्मिक वातावरण से इतने प्रभावित होते हैं कि उनसे गलत कार्य हो ही नहीं सकते, अधार्मिक कृत्य करने की बात वे सोच ही नहीं सकते।

महर्षि ने स्वयं लिखा है कि (**धर्म**) **के सीखे बिना सत्यासत्य का निर्णय पति आदि से अनुकूल वर्तमान, यथायोग्य सन्तानोत्पत्ति, उन का पालन वर्द्धन और सुशिक्षा करना, घर के सब कार्य्यों को जैसा चाहिये, वैसा करना, कराना** (सम्भव नहीं है)।

महर्षि ने धर्म का जो व्यापक अर्थ यहाँ लिया है, वह महर्षि की ही अपनी विशेषता है। धर्म के अन्तर्गत धर्म शास्त्रों का अध्ययन ही नहीं, जीवन की कला और व्यवहार की रीतियों को भी महर्षि ने इसमें शामिल किया है।

'जीवन की कला' को ही आज के शिक्षाविद् शिक्षा की भाषा में गृह-विज्ञान कहते हैं। वस्तुतः यह गृह विज्ञान से भी श्रेयस्कर है। गृह विज्ञान में सन्तानोत्पत्ति, सन्तान का उचित पालन-पोषण और गृह-कार्य का संचालन—इनकी शिक्षा दी जाती है। महर्षि ने इनसे भी अधिक महत्वपूर्ण बात—**'पति से अनुकूल वर्तमान'** की ओर भी इंगित किया है और इसके महत्व को दर्शाया है।

स्त्री का सबसे महत्वपूर्ण रोल पत्नी का है। इस रोल को उसे सफलतापूर्वक निबाहना ही होगा। घर में शान्ति, घर में वैभव, घर की प्रगति पति-पत्नी सम्बन्ध पर ही आधारित है। यदि यह सम्बन्ध मधुर होगा तो गृहस्थी की गाड़ी तेज भागेगी, घर में शान्ति होगी और सुख की वर्षा होगी।

वैद्यक :–घर की मालकिन को वैद्यक का साधारण ज्ञान होना चाहिये, यह महर्षि का मत था। वैद्यक के ज्ञान का अर्थ वैद्य को स्थानापन्न करना नहीं, इससे तो आशय है स्वास्थ्य की सामान्य बातों की जानकारी।

महर्षि स्वयं लिखते हैं कि "**वैद्यक विद्या** (के न आने) **सेऔषधवत् अन्न पान बनाना और बनवाना,** (स्त्रियाँ) **नहीं कर सकतीं जिससे घर में रोग कभी न आवें और लोग सदा आनन्दित रहें।**"

महर्षि चाहते थे कि :—

(१) स्त्रियों को स्वास्थ्य के साधारण नियमों से परिचित होना चाहिये जिससे वे स्वस्थ जीवन परिवार में संचरित कर सकें। घर को साफ सुथरा रखना, गन्दगी को हटाना, कूड़े आदि को जमा न होने देना, दन्त की रक्षा से ले कर शरीर-स्नान तक और वस्त्रों का स्वच्छता, स्वस्थ आचरण आदि ही स्वच्छ मन को बनाते हैं और स्वस्थ विचारों को उत्पन्न करते हैं।

(२) पौष्टिक भोजन के विषय में स्त्रियों को पूरी जानकारी होनी चाहिये। भोजन पर ही परिवार के सदस्यों का स्वास्थ्य आधारित है। भोजन को पौष्टिकता का ध्यान रखते हुये रोचक व्यंजन बनाकर गृह की स्वामिनी परिवार में आनन्द का प्रसार कर सकती है।

(३) छोटी मोटी बीमारियों के निदान का ज्ञान भी स्त्रियों के लिए आवश्यक है। हर समय तो डाक्टर के पास दौड़ा नहीं जा सकता। जिसे आज 'फर्स्ट एड' कहते हैं, उसका पूर्ण ज्ञान गृह–लक्ष्मी के लिये आवश्यक है।

विभिन्न ऋतुओं के आगमन के पूर्व स्वस्थ रहने के लिये क्या क्या सावधानियाँ आवश्यक है, यह ज्ञान भी आवश्यक है।

गणित

महर्षि लिखते हैं कि **'गणित विद्या के बिना सबका हिसाब समझना समझाना** (कठिन है)।

जैसा कि ऊपर चर्चा की जा चुकी है कि घर के संचालन की पूरी बाग-डोर महर्षि गृह-पत्नी को सौंप देना चाहते थे। यदि पत्नी को घर का सब

हिसाब किताब रखना हो—आय का पूरा लेखा जोखा और व्यय का पूरा विवरण - तो पत्नी के लिए आवश्यक है कि वह गणित की शिक्षा भी प्राप्त करें।

इससे यह भी आभास मिलता है कि महर्षि का मत था कि घर के सभी खरचे पत्नी के द्वारा हों। सारी खरीद फरोख्त भी वही करे। पति को इस भार से मुक्ति मिले।

संक्षेप में घर का बजट पत्नी के हाथ में हो।

शिल्पविद्या

शिल्पविद्या एक विस्तृत अर्थ का शब्द है। सीने–पिरोने से लेकर आभूषण बनवाने तक, बाग बगीचे से लेकर गृह के निर्माण तक—सभी शिल्पों को महर्षि ने इसमें शामिल किया है और इसका दायित्व भी उन्होंने स्त्रियों पर ही छोड़ा है।

सुन्दर घर बने, घर की सुन्दर सजावट हो, नरम घास बिछाई जाय और सुगंधित रंगीन फूल उगाये जायें—इन सबकी व्यवस्था गृह–लक्ष्मी को करनीहै। घर में आकर्षक फर्नीचर हो, और सुन्दर साज—सज्जा हो यह भी गृह–पत्नी को देखना है। परिवार के सदस्यों के पास उपयुक्त वस्त्र हों–इसका भी भार स्त्रियों को ही सहन करना होगा। अपने आभूषण तो उन्हें बनवाने ही हैं।

महर्षि ने शिल्पविद्या सम्बन्धी अपने विचारों को कितने सुन्दर ढंग से लिखा है—**"शिल्पविद्या के जाने बिना घर का बनवाना, वस्त्र, आभूषण आदि का बनाना बनवाना** असम्भव है।"

महर्षि द्वारा निर्धारित इस पाठ्यक्रम पर ध्यान दीजिए। इसका मनन कीजिए। स्त्रियों की शिक्षा के लिए इससे अधिक उपयोगी क्या पाठ्यक्रम आज भी बनाया जा सकता है? परमाणु–युग में भी महर्षि के ये विचार ताजगी लिये हुये हैं और आज के प्रसंग में भी अत्यन्त ही उपयुक्त हैं।

स्त्रियों के लिए विशेष शिक्षा

महर्षि ने इस विषय में जो चिन्तन किया है उसकी एक और भी विशेषता है। उनका मत था कि पत्नी को पति का सहयोगी अवश्य होना चाहिए। पति जिस कार्य्य में रत है, उस कार्य की जानकारी पत्नी को अवश्य होनी चाहिये। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि **"आर्यावर्त्त के राजपुरुषों की स्त्रियाँ धनुर्वेद अर्थात् युद्ध विद्या भी अच्छी प्रकार जानती थीं क्योंकि जो न जानती होती तो कैकेयी आदि दशरथ आदि के साथ युद्ध में क्योंकर जा सकतीं ? और युद्ध कर सकतीं ?**

सामान्य शिक्षा के अतिरिक्त महर्षि ने निर्धारित किया है कि

(१) **ब्राह्मण की पत्नी ब्राह्मणी को** ब्रह्मविद्या का ज्ञान हो। उन सभी विद्याओं का बोध हो जिनमें उनके पति पारंगत हों।

(२) **क्षत्रिय की पत्नी क्षत्रिया** को युद्ध तथा राजविद्या का विशेष ज्ञान हो।

(३) **वैश्य की पत्नी वैश्या** को व्यवहार विद्या आनी चाहिए।

(४) **शूद्र की स्त्री शूद्रा को** पाकादि सेवा की विद्या अवश्य पढ़नी चाहिये।

आज के युग में भी यह सत्य सिद्ध हो रहा है। जिलों के जिलाधीश की पत्नी से भी अपेक्षा की जाती है कि वे जिले के अनेक रचनात्मक कार्य्यों में रुचि लें। मंत्रियों की पत्नीं से भी पुरस्कार वितरण कराये जाते हैं। राजदूतों की पत्नी से भी अपेक्षा की जाती है कि वे अपने पति को सहयोग दें उनके कार्य्य में राजदूतों के चुनाव के समय उनकी पत्नी की योग्यता की ओर भी ध्यान दिया जाता है। व्यवहार निपुण, सुशिक्षित, सुघड़ पत्नी अपने पति के लिए उपयोगी सहायक सिद्ध होती हैं।

वर्तमान शिक्षा पद्धति ने इस दिशा में हमें निराश ही किया है और स्त्री–शिक्षा के इस महत्वपूर्ण अंग की ओर ध्यान ही नहीं दिया है।

महर्षि दयानन्द की महानता ही यह है कि उन्होंने शिक्षा के छोटे पर महत्वपूर्ण विषयों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है।

आचार्य

भक्त एकलव्य की भी आस्था थी कि बिना आचार्य के शिक्षा प्राप्त नहीं की जा सकती। जब गुरु द्रोणाचार्य ने उसे शिष्य बनाना अस्वीकार कर दिया तो एकलव्य ने गुरु की मूर्ति बनाई और उसे ही गुरु के स्थान पर प्रतिष्ठित किया और उस मूर्ति से ही आशीर्वाद माँग कर शिक्षा ग्रहण की।

आचार्य का शिक्षा में सबसे महत्वपूर्ण स्थान है। आचार्य ही शिक्षा के केन्द्र-बिन्दु हैं जिनके चारों ओर शिक्षा नाचती है। आचार्य की विद्वत्ता और कार्य-क्षमता पर ही शिक्षण-केन्द्र का यश-अपयश आश्रित है।

महर्षि सत्यार्थ प्रकाश के द्वितीय समुल्लास का प्रारम्भ ही शतपथ ब्राह्मण के इस वचन से करते हैं:—

मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद।

बालक के विकास को तीन व्यक्ति प्रभावित करते हैं। पहले माता, फिर पिता और उसके बाद आचार्य। पाँच वर्ष की आयु तक मा, ८ वर्ष की आयु तक पिता और फिर आचार्य बालक के जीवन में मार्ग-दर्शन करते हैं।

महर्षि ने उचित ही लिखा है कि **"जब तीन उत्तम शिक्षक अर्थात् एक माता, दूसरा पिता, और तीसरा आचार्य होवे तभी मनुष्य ज्ञानवान् होता है।"**

आचार्य कौन ?

महर्षि ने इस प्रश्न का उत्तर दिया है,

"उस व्यक्ति को जो विद्यार्थी को अत्यन्त प्रेम से, धर्मयुक्त व्यवहार की शिक्षापूर्वक विद्या होने के लिए तन, मन और धन से प्रयत्न करे, उसको 'आचार्य' कहते हैं।"

इस परिभाषा से आचार्य की निम्न विशेषतायें प्रदर्शित होती है:—

(१) विद्यार्थी के लिए आचार्य में असीम प्रेम हो। अपने पुत्र के भविष्य के लिए जो कामना हो वही विद्यार्थी के लिए हो। विद्यार्थी को पुत्रवत् समझें। विद्यार्थी के प्रति सहानुभूति पूर्वक व्यवहार हो। विद्यार्थी अभी अशिक्षित है, शिक्षा प्राप्त करने आया है, अभी नासमझ है, समझदार बनने आया है। वह गलती कर सकता है, अटक सकता है। उसकी नासमझ को क्षमा करके, उसके दोषों को ओट करके, उसकी दुर्बलताओं पर परदा डाल करके असीम धैर्य का प्रदर्शन करके आचार्य को अपने विद्यार्थी के साथ व्यवहार करना है।

(२) महर्षि कहते हैं कि आचार्य अपने विद्यार्थी से यहाँ तक प्रेम करें कि उनके लिए आवश्यकता पड़ने पर तन, मन और धन की भी न्यौछावर कर दें।

आज शिक्षक समझता है कि शिक्षण एक व्यवसाय है और वह इस व्यवसाय में धनोपार्जन हेतु आया है। उसे धन मिलना चाहिए। विद्यार्थी दे, या समाज दे, या शासन दे। वह विद्यार्थी पर धन व्यय करे, इसकी बात भी वह सोच नहीं सकता।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि शिक्षक के अपने व्यय हैं। उनके लिए उसकी आय होनी ही चाहिए। पर वह शिक्षक अपने पद के योग्य नहीं जो भूखे हुए विद्यार्थी को देखकर स्वयं केक पेस्ट्री खा ले। हम ईसाई मिशनरियों द्वारा संचालित विद्यालयों की प्रशंसा करते हैं। वहाँ के अध्यापकों की प्रशंसा करते हैं। वे प्रशंसा के योग्य हैं भी—इसलिये कि जो सद् भावना उनमें है, वह अन्यों में नहीं। वे मिशनरी भावना से कार्य करते हैं। उन्होंने शिक्षण को व्यवसाय नहीं समझा है। वे आवश्यकता पड़ने पर अपने छात्रों की तन, मन, धन से सहायता भी कर देते हैं। महर्षि ने इसी भावना की ओर इंगित किया है।

वस्तुत: वही व्यक्ति आचार्य बनने के योग्य है जो मिशनरी भावना से कार्य करें।

(३) महर्षि चाहते थे कि आचार्य जो शिक्षा और विद्या प्रदान करें वह शिक्षा धर्मयुक्त व्यवहार लिए हुए हो। उस शिक्षा में धर्म का पुट हो। वह शिक्षा धर्म पर आधारित हो। अर्थात् वह शिक्षा सत्य विद्याओं की हो, मिथ्या विद्या की न हो। वह शिक्षा सत्य के आचरण की हो। वह व्यक्ति में गुण भरे और दोष हटाये।

यह कार्य वही व्यक्ति कर सकता है

(i) जो विद्वान हो, अपने विषय में पारंगत हो।

(ii) जो धार्मिक प्रवृत्ति और प्रकृति का हो। सत्य पर जिसे निष्ठा हो और न्याय पर जिसै आस्था हो।

(iii) जिसमें ईश्वर भक्ति हो और जो ईश्वर से डरता भी हो।

ऐसा ही व्यक्ति धर्मयुक्त शिक्षा प्रदान कर सकता है और यही व्यक्ति आचार्य के पद को सुशोभित कर सकता है।

(४) महर्षि चाहते थे कि आचार्य अपने लक्ष्य कोबना: लें—विद्यार्थी में सम्पूर्ण मानवीय गुणों का संचार कर दे। वे इसी लक्ष्य की पूर्ति में संलग्न रहें।

हर व्यक्ति अपने लक्ष्य तक पहुँचना चाहता है। यदि मैं इस उद्देश्य को अपना लूँ कि मुझे अपने विद्यार्थियों को अपने से अधिक श्रेष्ठ, अधिक विद्वान बनाना है तो मैं इसके लिए सतत प्रयत्न करूँगा ही, कोई कसर उठा न रखूँगा।

महर्षि चाहते थे कि आचार्य अपने इस लक्ष्य तक पहुंचने के लिए पूरा प्रयास करें।

आचार्य के गुण

व्यवहार भानुः में महर्षि ने आचार्य की निम्न विशेषताओं की चर्चा की है।

"जो निरन्तर सत्य में रमण जितेन्द्रिय शान्तात्मा, उत्कृष्ट, शुभगुण स्वभावयुक्त और रोग रहित पराक्रम-सहित शरीर ब्रह्मचर्य अर्थात् वेदादि सत्यशास्त्र और परमात्मा की उपासना का अभ्यास कर्मादि करते हैं, उनके वे सब उत्तम गुण बुरे काम और दु:खों को नष्ट कर सर्वोत्तम धर्मयुक्त कर्म और सब गुणों की प्राप्ति करने हारे होते हैं और इन्हीं के सेवन से मनुष्य उत्तम अध्यापक और उत्तम विद्यार्थी हो सकते हैं।"

यह पूछने पर कि कौन आचार्य पद के योग्य नहीं, महर्षि उत्तर देते हैं—

"जो किसी विद्या का न पढ़ा और किसी विद्वान का उपदेश न सुनकर बड़ा घमण्डी, दरिद्र होकर धन सम्बन्धी बड़े बड़े कामनाओं की इच्छा वाला और बिना कर्म किए बड़े बड़े फलों की इच्छा करने हारा है, उसे पढ़ाने का अधिकार नहीं है।

व्यवहार भानु में महर्षि ने यह भी लिखा है कि "जो विद्या पढ़ें और पढ़ायें वे निम्नलिखित दोषयुक्त न हों:—

"आलस्य, अभिमान, नशा करना, मूढ़ता, चपलता, व्यर्थ इधर उधर की अण्ड बण्ड बातें करना, जड़ता, कभी पढ़ाना कभी न पढ़ाना, अभिमान और लोभ लालच ये सात विद्यार्थियों के विद्या के विरोधी दोष हैं क्योंकि जिसको सुख चैन करने की इच्छा है, उसको विद्या कहाँ और जिसका चित्त विद्या ग्रहण कराने में लगा है उसको विषय सम्बन्धी सुख चैन कहाँ ? इसलिए विषय सुखार्थी विद्या को छोड़े और विद्यार्थी विषय सुख से अवश्य अलग रहें, नहीं तो परम धर्म रूप विद्या का पढ़ना पढ़ाना कभी न हो सकेगा।"

एक अन्य स्थल पर महर्षि कहते हैं कि निम्न प्रकार के व्यक्ति को आचार्य बनने का अधिकार भी नहीं है:—

"जो अपने सामने यथा तथा बकने, निर्लज्ज होने, व्यर्थ चेष्टा करने आदि बुरे कर्मों से हटाकर विद्या आदि शुभ गुणों के लिये उपदेश नहीं करते, न तन, मन, धन लगाके उत्तम विद्या व्यवहार का सेवन कराकर अपने सन्तानों को सदा श्रेष्ठ न करते जाते हैं, वे माता पिता और आचार्य कहाकर धन्यवाद के पात्र कभी नहीं हो सकते।"

व्यवहार भानु: में महर्षि लिखते हैं कि "जो अपने अपने सन्तान और शिष्यों को ईश्वर की उपासना, धर्म अधर्म, प्रमाण, प्रमेय, सत्य, मिथ्या, वेद शास्त्र आदि के लक्षण और उनके स्वरूप का यथावत् बोध करा और सामर्थ्य के अनुकूल उनको वेद शास्त्रों के वचन भी कण्ठस्थ कराकर विद्या पढ़ने आचार्य के अनुकूल रहने की रीति जना देवें कि जिससे विद्या प्राप्ति आदि प्रयोजन सिद्ध हों वे ही माता, पिता और आचार्य कहाते है।"

आचार्य क्या क्या शिक्षा करें ?

महर्षि इस प्रश्न के उत्तर में लिखते हैं—

"ये अपने विद्यार्थियों को अच्छी भाषा बोलने, खाने, पीने, बैठने, उठने वस्त्र, धारण करने, माता-पिता आदि के मान्य करने, उनके सामने यथेष्टाचारी न होवें, विरुद्ध चेष्टा न करने आदि के लिये प्रयत्न में नित्य प्रति उपदेश किया करें और जैसा जैसा उनका सामर्थ्य बढ़ता जाय, वैसी वैसी उत्तम बातें सिखलाते जायें।"

इसी पुस्तिका में एक अन्य स्थान पर महर्षि ने सावधान भी कर दिया है—

"जो जो हमारे उत्तम चरित्र हैं, सो-सो करो और जो कभी हम भी बुरे काम करें उनको कभी मत करो, इत्यादि उत्तम उपदेश और कर्म करने और कराने हारे माता-पिता और आचार्य आदि श्रेष्ठ कहाते हैं।"

पढ़ाने से लाभ

महर्षि कहते हैं कि पढ़ाने से लाभ ही लाभ है । "पढ़ने से पढ़ाने में विद्या की वृद्धि अधिक होती है । पढ़के आप अकेला विद्वान रहता और पढ़ाने में दूसरा भी हो जाता है ।

आचार्य और ताड़ना

महर्षि ताड़ने के पक्ष में थे । उनका विश्वास था कि "Spare the rod and spoil the child" सत्यार्थ प्रकाश में उन्होंने लिखा है कि "उन्हीं के सन्तान विद्वान, सभ्य और सुशिक्षित होते हैं जो पढ़ाने में सन्तानों का लाड़न कभी नहीं करते किन्तु ताड़ना ही करते रहते हैं ।"

इसी पुस्तक में एक अन्य स्थान पर वे लिखते हैं:–

"आचार्य लोग अपने विद्यार्थियों को विद्या और सुशिक्षा होने के लिए प्रेमभाव में अपने हाथों से ताड़ना करते हैं क्योंकि सन्तान और विद्यार्थियों का जितना लाड़न करना है, उतना ही उनके लिये बिगाड़ और जितनी ताड़ना करनी है उतना ही उनके लिए सुधार है ।"

* महर्षि ने साथ ही सुझाव भी दिया है कि माता, पिता तथा अध्यापक लोग ईर्ष्या, द्वेष में ताड़न न करें, किन्तु ऊपर से भय प्रदान और भीतर से कृपा दृष्टि रक्खें ।

* आचार्य ऐसी ताड़ना न करें कि जिससे अंग भंग व मर्म में लगने से विद्यार्थी या लड़के लड़की लोग व्यथा को प्राप्त हो जायं ।"

आचार्य कुल

महर्षि का विचार है कि विद्या पढ़ने का स्थान एकान्त देश में होना चाहिए । अधिक उपयुक्त यह है कि वह नगर या ग्राम से एक योजन अर्थात् चार कोस की दूरी पर हो ।

महर्षि का विचार है कि आचार्य कुल में किसी प्रकार का पक्षपात

न हो, सब समान-भाव से रहें और विद्याध्ययन करें। सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में वे लिखते हैं कि आचार्य कुल में "सबको तुल्य वस्त्र खानपान, आसन दिए जावें चाहे वह राजकुमार व राजकुमारी हो, चाहे दरिद्र के सन्तान हो, सबको तपस्वी होना चाहिए। उनके माता-पिता अपने सन्तानों से व सन्तान अपने माता पिता से न मिल सकें और न किसी प्रकार का पत्र व्यवहार एक दूसरे से कर सकें, जिससे संसारी चिन्ता से रहित होकर विद्या पढ़ाने की चिन्ता रक्खें।"

महर्षि सुझाव देते हैं कि "जब विद्यार्थी भ्रमण को जायें तब उनके साथ अध्यापक रहें, जिससे वे किसी प्रकार की कुचेष्टा न कर सकें और न आलस्य प्रमाद करें।"

विद्या पढ़ने पढ़ाने के विघ्न

महर्षि का आदेश है कि विद्या के मार्ग में जो बाधाएँ आती हैं, उनको आचार्य हटाने का प्रयास करें। विद्या के पढ़ने पढ़ाने में मुख्यत: निम्न विघ्न खड़े हो जाते हैं:—

(१) कुसङ्ग अर्थात् दुष्ट विषयी जनों का संग,
(२) दुष्ट व्यसन जैसे मद्यादि सेवन और वेश्यागमनादि,
(३) बाल्यावस्था में विवाह,
(४) पूर्ण ब्रह्मचर्य न होना,
(५) राजा, माता-पिता और विद्वानों का प्रेम वेदादि शास्त्रों के प्रचार में न होना,
(६) अति–भोजन,
(७) अति–जागरण,
(८) पढ़ने-पढ़ाने, परीक्षा लेने व देने में आलस्य व कपट करना,
(९) सर्वोपरि विद्या का लाभ न समझना,

(१०) ब्रह्मचर्य से वीर्य, बल, बुद्धि, पराक्रम, आरोग्य, राज्य, धन की वृद्धि न मानना,

(११) ईश्वर का ध्यान छोड़ अन्य पाषाणादि जड़ मूर्ति के दर्शन पूजन में व्यर्थ काल खोना,

(१२) माता-पिता, अतिथि और आचार्य, विद्वान इसको सत्यमूर्ति मानकर सेवा सत्संग न करना,

(१३) वर्णाश्रम के धर्म को छोड़ ऊर्ध्वपुण्ड्र, त्रिपुण्ड्र, तिलक, कंठी, मालाधारण, एकादशी त्रयोदशी आदि व्रत करना,

(१४) काशी आदि तीर्थ में निष्ठा रखना और राम, कृष्ण, नारायण, आदि को भगवान मान कर पूजा करना।



पं० गंगा प्रसाद उपाध्याय
की पुण्य स्मृति में प्रकाशित

हमारे प्रकाशन

महर्षि दयानन्द का शिक्षा दर्शन—प्रो० श्री प्रकाश

महर्षि दयानन्द का राजनैतिक दर्शन—प्रो० श्री प्रकाश

वैदिक संस्कृति के पुनरुत्थान में महर्षि दयानन्द का योगदान--ला० लाजपतराय

महर्षि दयानन्द और समाज—प्रो० श्री प्रकाश